

७

विश्व-परिदृश्य
विदेशनीति

फीजी के भारत-वंशी

सन् १८५७ की राज्य-क्रान्ति में भारत के जिन प्रान्तों के लोगों ने अधिकतम भाग लिया था, उन प्रान्तों के लोगों से अंग्रेजों ने राज्यक्रान्ति को कुचलने के बाद बुरी तरह बदला लिया। पंजाब की जिन सिख-रियासतों ने उस समय अंग्रेजों का साथ दिया था, अंग्रेजों ने जहां उनको पुरस्कृत करने में कसर नहीं छोड़ी, वहां विद्रोह में शामिल होने वालों को दंडित करने में भी कसर नहीं छोड़ी। राज्य क्रान्ति में हिस्सा लेने वाले लोग अधिकतर पूर्वी उत्तर प्रदेश के और बिहार के भोजपुर इलाके के रहने वाले थे। महाराजा कुंवर सिंह के मारे जाने के पश्चात् उनकी सेना के सिपाही सब तितर-बितर हो गये और अंग्रेजों ने उनको पूरी तरह घसीयारा बना कर छोड़ा। उनके पास अपनी कोई जमीन-जायदाद तो थी नहीं, वे प्रायः नीची जाति के लोग थे और अनपढ़ भी थे। जब रोजी-रोटी का कोई साधन नहीं बचा तब उन्हें अंग्रेजों ने ही शर्तबन्द कुली प्रथा के मातहत अपने उन उपनिवेशों में भेजने की योजना बनाई जिन उपनिवेशों पर भारतीय सेना की बंदौलत उन्होंने आधिपत्य स्थापित किया था और अपने साम्राज्य का हिस्सा बनाया था। ये नये उपनिवेश अफ्रीका और दक्षिण अमरीका के विभिन्न देशों में प्रायः टापुओं के रूप में विद्यमान थे। इन उपनिवेशों में सुरीनाम, ब्रिटिश गयाना, जमाइका, ट्रिनीडाड, टुबेगो, फीजी और मॉरिशस भी शामिल थे। कुलियों के रूप में ले जाये गये उन भारतीयों ने उन जंगली टापुओं को आबाद किया। अपनी मेहनत से वहां खेती बाड़ी की और धीरे-धीरे समृद्धि के मार्ग पर उन टापुओं को ले जाते हुए उन्हें आधुनिक दुनिया के भूगोल में गौरवपूर्ण स्थान दिलाया।

इन प्रदेशों में गये भारतीयों की एक और भी विशेषता थी। इस पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। वे भारतवंशी भले ही गरीब और शोषित थे और अपने साम्राज्य मद से उन्मत्त उस समय के अंग्रेज-मालिकों ने उन कुलियों पर अत्याचार भी कम नहीं किये, परन्तु भारतीयों ने अद्भुत जीवट का परिचय दिया। जहां अपने पसीने से सींच कर उन प्रदेशों को गन्ने की खेती तथा अन्य प्रकार के धन-धान्य से समृद्ध किया, वहां सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि भले ही उन इलाकों के मूल-निवासियों ने अपनी किसी उच्चतर संस्कृति के अभाव में ईसाई मत ग्रहण किया हो, परन्तु

इन भारत वंशियों ने कभी ईसाईयत को घास नहीं डाली। वे न केवल अपने धर्म पर अडिग रहे, प्रत्युत उन्होंने अपनी भाषा और अपनी संस्कृति को अपने वतन से हज़ारों मील दूर जाकर भी यथासम्भव ज्यों का त्यों रखने का प्रयत्न किया।

परन्तु काल-चक्र से जब भारत पर अंग्रेज़ों का राज्य समाप्त हो गया, अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार शर्तबन्द कुली-प्रथा भी समाप्त कर दी गई, और धीरे-धीरे इन भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों में राजनीतिक चेतना जागृत हुई, तब वहां के निवासी इन भारतीयों ने भी अपनी गर्दन सीधी करके खड़े होने का साहस किया। जब तक भारत गुलाम था तब तक उनकी भी गर्दन झुकी रही। परन्तु भारत के आज़ाद होते ही उन्होंने भी आज़ादी की हवा में सांस लेने का अपना जन्म-सिद्ध अधिकार पहचानना प्रारम्भ किया। इस राजनीतिक चेतना का सबसे अच्छा सुखद परिणाम मॉरिशस में उजागर हुआ जहां भारतीय मूल के लोगों ने अपनी राजनीतिक सत्ता स्थापित की। सारे संसार में लोकतंत्र की दिशा में भारत की स्वाधीनता ने जो प्रेरणा-मंत्र फूँका था, उसी लोकतंत्र की प्रणाली का यह चमत्कार था कि जब मॉरिशस में प्रत्येक वयस्क व्यक्ति को वोट देने का समान अधिकार मिला तो देखते ही देखते बहुमत में होने के कारण भारतवंशी विजयी होते चले गये और अन्त में मॉरिशस की सत्ता उनके हाथ में आ गई। अब मॉरिशस को सही अर्थों में लघु भारत का नाम दिया जाता है। यह मॉरिशस ही है जिसने भारत के बाहर प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय हिन्दी महासम्मेलन का आयोजन किया और संयुक्त राष्ट्र-संघ में हिन्दी भाषा को भी मान्यता देने का प्रस्ताव पास किया। जो बात हम भारत में नहीं कर सके, वह मॉरिशस के उन भारत-वंशियों ने करके दिखा दी।

मॉरिशस जैसी स्थिति फीजी में भी थी। वहां भी भारतीयों का बहुमत है। परन्तु अंग्रेज़ फीजी से जाते-जाते एक विष-बीज बो गए और यह कानून बना गए कि कोई भी भारतवंशी फीजी में भूमि के एक इंच का भी स्वामी नहीं बन सकता। सारी भूमि केवल वहां के मूल-निवासियों के कब्जे में रहेगी। भारतवंशी लोग ज़मीन पट्टे पर लेकर खेती कर सकते हैं, मकान बना सकते हैं और व्यापार कर सकते हैं। परन्तु भूमि के स्वामित्व का दावा नहीं कर सकते। इस विष-बीज ने फीजी के मूल निवासियों और वहां के बहुसंख्यक भारत-वंशियों में एक ऐसी दरार पैदा कर दी जिसे किसी भी तरह पाटा नहीं जा सकता। अंग्रेज़ों ने ही वहां के संविधान में चुनाव में खड़े होने के लिये नसलीय मुद्दे खड़े कर दिये और वहां की सारी राजनीति भारतीय और गैरभारतीय के नाम से चलने लगी।

इसमें संदेह नहीं कि आज का फीजी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से जिस स्थान पर पहुंचा हुआ है, उसका अधिकतम श्रेय वहां के भारतीयों को है; और उसी का यह परिणाम था कि लोकतंत्रीय प्रणाली से चुनकर आई पहली

बार वहां भारतवंशियों की सरकार बनी। परन्तु भारत में अस्थिरता पैदा करने के लिये तरह-तरह के षड्यंत्र करने वाली महाशक्तियां भारत के बाहर भी भारतवंशियों को राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली होता नहीं देख सकतीं। इन्हीं महाशक्तियों की बदौलत फीजी में लोकमत के आधार पर निर्वाचित सरकार के विरुद्ध फौजी-विद्रोह करवाया गया। प्रधानमंत्री समेत अन्य सब मंत्रियों को भी गिरफ्तार कर लिया गया और सेना-अध्यक्ष के नाते से राबुका डिक्टेटर बन बैठी। परन्तु फीजी की जनता ने इन विद्रोहियों का साथ नहीं दिया तो अन्त में गवर्नर जनरल ने राज्य के सब अधिकार अपने हाथ में लेकर शासन चलाने के लिये १६ व्यक्तियों की एक परिषद् बनाई जिसमें प्रधानमंत्री डॉ० बबाद्रा के साथ एक अन्य भारतीय को भी सदस्य बनाया। परन्तु निर्वाचित प्रधानमंत्री इस अपमान को सहने को तैयार नहीं हुए और उन्होंने परिषद् का सदस्य बनने से इंकार कर दिया। उन्होंने शान्तिपूर्ण सत्याग्रह आन्दोलन करने की भी घोषणा की है, क्योंकि उन्हें पूरा विश्वास है कि जनता उनके साथ है।

फीजी का घटना-चक्र आगे क्या रूप लेता है, यह कहना कठिन है। परन्तु इस सारे काण्ड में भारत सरकार ने दूरस्थ इन भारतवंशियों के प्रति जो उदासीनता का भाव दर्शाया है, वह शर्मनाक है। आस्ट्रेलिया ने अपना युद्धपोत प्रशान्त महासागर में भेज दिया है। उसका कहना तो यह है कि फीजी में रहने वाले आस्ट्रेलियाई लोगों को बचाने के लिये यह व्यवस्था की गई है। इधर भारत सरकार की उदासीनता का यह हाल है कि स्वयं भूतपूर्व ब्रिटिश साम्राज्य की उत्तराधिकारिणी और इन पूर्व-उपनिवेशों के प्रति अपनी जिम्मेवारी महसूस करने वाली ब्रिटेन की महारानी एलीजाबेथ ने भारत सरकार से आग्रह किया है कि वह फीजी में जनमत के आधार पर निर्वाचित सरकार को पुनः बहाल करने का प्रयत्न करे। हम भारतीयों की आत्मा कितनी मर गई है कि विदेश-स्थित अपने इन बन्धुओं के प्रति अन्याय और अत्याचार होते हुए हम चुपचाप देखते रहें? क्या उनके प्रति हमारा कोई कर्तव्य नहीं है?

३१ मई १९८७

हिन्द-महासागर का मोती राजनीतिक भंवर में

मॉरिशस का टापू आकार में इतना छोटा है कि संसार के मानचित्र में उसको आसानी से तलाश करना भी मुश्किल है। पर अपनी भौगोलिक विशेषताओं के कारण इस टापू ने जो ख्याति प्राप्त की है, उसके कारण इसे 'हिन्द-महासागर का मोती' कहा जाता है। मोती भी तो देखने में छोटा सा होता है, पर उसकी आभा सबको आकर्षित करती है। उसी प्रकार ४० मील लम्बा और २८ मील चौड़ा यह छोटा सा टापू अपने लघु आकार में ही सब तरह के मौसमों, अनेक प्रकार के पुष्पों और वनस्पतियों तथा अनेक रंगों के जल वाले समुद्र-तट के कारण पर्यटकों के लिए स्वर्ग के समान समझा जाता है। पर्यटकों के अलावा राजनीतिक दृष्टि से भी इस टापू का कम महत्त्व नहीं है। मॉरिशस के स्वतंत्र हो जाने के पश्चात् इसके एक निकटवर्ती टापू जीयागो (जिसे अंग्रेजी स्पेलिंग के हिसाब से भारत के लोग डियागो बोलते हैं) गार्शिया पर अमरीका ने कब्जा कर रखा है, और वहां अपनी नौसेना का बेड़ा तैनात कर रखा है ताकि सारे हिन्द महासागर की उस बेड़े के माध्यम से निगरानी रखी जा सके। कहा जाता है कि वह बेड़ा आणविक हथियारों से लैस है।

मॉरिशस का इतिहास आंसू पसीने और खून का इतिहास है। सबसे पहले पुर्तगालियों ने इस टापू का पता लगाया था, परन्तु आज उनका वहां कोई अवशेष नाम-मात्र को भी नहीं है। उसके बाद डच लोगों ने इस पर कब्जा किया और इसके जंगलों में बड़े पैमाने पर आबनूस के पेड़ों को काटकर यूरोप में अच्छा व्यापार किया। डच लोगों का भी अब वहां कोई अवशेष नहीं है। केवल इतिहास में ही एक शब्द के माध्यम से उनकी मॉरिशस में उपस्थिति का आभास मिलता है। अंग्रेजी में शब्द है— "डेड एज डोडो"। ये डोडो नाम का पक्षी मॉरिशस में ही होता था, परन्तु डच लोगों ने उसका इतनी बेरहमी से शिकार किया कि अब इस पक्षी की नस्ल सर्वथा समाप्त हो गयी है। इसलिए जब किसी को सर्वथा नाम-शेष बताना हो तब अंग्रेजी के इस मुहावरे का प्रयोग किया जाता है। डच लोगों के बाद फ्रांस ने इस टापू पर कब्जा किया और तब पहली बार फ्रांसीसी सरकार ने इस टापू को सभी दृष्टियों से विकसित करके सभ्य जगत् के मानचित्र पर प्रस्तुत किया।

फ्रांसीसी कला और सौन्दर्य का जो भी सुन्दर रूप हो सकता है, उसको भौतिक परिवेश में ढालने का प्रयत्न फ्रेंच लोगों ने ईमानदारी से किया। इसलिए आज भी वहां फ्रेंच संस्कृति का बोलबाला है। सब स्थानों के नाम फ्रांसीसियों के ही रखे हुए हैं और सड़कों की सफाई तथा पुरुषों का बाहुल्य आज भी पर्यटक को फ्रेंच-संस्कृति की याद दिलाते हैं। परन्तु १८ वीं सदी जिस प्रकार सारे यूरोप में फ्रांसीसी साम्राज्य के विस्तार की सदी थी, उसी प्रकार १९ वीं सदी ब्रिटिश-साम्राज्य के विस्तार की कथा है। जब मैसूर के टीपू सुल्तान और फ्रांस के सम्राट् नैपोलियन के मध्य पत्र-व्यवहार के सम्बन्ध में अंग्रेजों को पता लगा, तब उनके कान खड़े हुए और उनको लगा कि जब तक मॉरिशस टापू फ्रांस के कब्जे में रहेगा, तब तक समुद्री मार्ग से फ्रांस के भारत पर आक्रमण की संभावना को समाप्त नहीं किया जा सकेगा। इसलिए उन्होंने भारतीय सेना की सहायता से मॉरिशस पर हमला करके फ्रांसीसियों को वहां से खदेड़ दिया। तब से उस पर अंग्रेजों का कब्जा बना रहा। परन्तु भारत के आज़ाद होने और ब्रिटिश साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने के कारण अन्ततः अंग्रेजों को लाचार होकर सन् १९६८ में मॉरिशस को आज़ाद करना पड़ा। परन्तु अब भी वहां गवर्नर-जनरल ही नियुक्त होता है जो ब्रिटिश सम्राट् का प्रतिनिधि माना जाता है। मॉरिशस को अपनी सेना रखने का अधिकार नहीं है।

फ्रांसीसियों के समय से ही वहां भारत से मज़दूरों का जाना प्रारम्भ हो गया था। फ्रांसीसियों ने ही वहां गन्ने की खेती शुरू की थी और चीनी-उत्पादन ही वहां का सबसे बड़ा व्यवसाय था। भारत से जो मजदूर जाते उनको गिरमिटिया कहा जाता था। उनके साथ पांच साल का एग्रीमेन्ट होता था। इस एग्रीमेंट से बंधे होने के कारण ही उनको एग्रीमेन्टिया या गिरमिटिया कहा गया। पूर्वी उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बिहार के इलाकों से गए पिछड़े वर्गों के यह मजदूर प्रायः अनपढ़ लोग थे। अंग्रेजों के जमाने में इन मजदूरों का जाना और तेज़ हुआ, और जब अफ्रीका से गुलामों का मिलना बन्द हो गया, तब भारत के इन मजदूरों को गुलामों की जगह इस्तेमाल किया गया। उस समय फ्रांसीसी व अंग्रेज़ दोनों ने उन भारतीय मजदूरों के साथ जिस प्रकार ज़ोर-जुल्म किया, वह कथा आज भी मॉरिशस-वासियों के रोंगटे खड़े कर देती है। हालांकि नई पीढ़ी को उन अत्याचारों का सामना नहीं करना पड़ा, परन्तु उनके पूर्वजों की जिन पीढ़ियों ने वे अत्याचार सहे थे, वे पीढ़ियां अभी मॉरिशस में सर्वथा समाप्त नहीं हुई हैं। उन्हीं अत्याचारों ने मॉरिशस को आज़ादी दिलाने में और आज़ादी के पश्चात् राजनीतिक चेतना जगाने में अभूतपूर्व योगदान दिया है।

इस समय वहां अनेक धर्मों अनेक भाषाओं और अनेक नस्लों के लोग हैं, परन्तु सबसे अधिक संख्या भारतीय मूल के लोगों की है। अत्याचारों के शिकार उन भारतीयों ने किस प्रकार अपने धर्म और अपनी संस्कृति की रक्षा की, उसकी कहानी भी बड़ी बेजोड़ है। यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्तियां जहां-जहां गयीं वहां-वहां बाइबल लेकर गयीं। उनके हाथ में बाइबल होती थी और मूल-निवासियों के पास ज़मीन। परन्तु कुछ सालों के साम्राज्यवादी शोषण के पश्चात् इन यूरोपीय आकाओं के हाथ में ज़मीन आ गयी और मूल निवासियों के हाथ में बाइबल। केवल ये भारतवंशी ही थे जिन्होंने साम्राज्यवाद के भयंकर शोषण, त्रास और भय तथा प्रलोभन के बावजूद न अपने धर्म को छोड़ा, न संस्कृति को। उन्होंने तुलसी रामायण के मुकाबले में बाइबल को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। यह भारतीय संस्कृति की जीजीविषा की ऐसी गौरवपूर्ण कहानी है जिस पर प्रत्येक भारतवासी को गर्व हो सकता है। जब सर मोहम्मद इकबाल यह कहते हैं—

कुछ बात है कि हस्ती भिटती नहीं हमारी।

सदियों रहा है दुश्मन दौरे जहां हमारा।

वह "कुछ बात" कौन सी है यह देखना हो तो उन ब्रिटिश उपनिवेशियों में जाकर देखा जा सकता है जहां भारतवंशी लोग गये ओर वे अपने धर्म पर अडिग रहे। यह बात केवल मॉरिशस में ही नहीं, बल्कि फीजी, गयाना, सुरिनाम, पूर्वी अफ्रीका और दक्षिण अफ्रीका के उन सभी प्रदेशों की है, जहां-जहां भारतवासी गये। उन्होंने समस्त विपरीत परिस्थितियों के बावजूद अपने हिन्दुत्व को तिलांजलि नहीं दी। जब कि उन सब प्रदेशों के मूल-निवासी खुशी-खुशी ईसाइयत की गोद में चले गये। भारतवंशियों की यह दृढ़ता भी अन्य लोगों के लिए किस प्रकार ईर्ष्या की वस्तु बन गयी, इसका उदाहरण फीजी में देखा जा सकता है। वहां भी भारतवंशी ५२ प्रतिशत हैं। लोकतंत्रीय प्रणाली के आधार पर चुनाव जीतकर वे वहां अपनी सरकार बनाने में समर्थ भी हो गये, परन्तु वहां के मूल निवासी काइबितियों और महाशक्तियों की कूटनीति के मेल से वहां सैनिक विद्रोह करवा के सरकार को बर्खास्त करा दिया गया और अब वहां के संविधान में ऐसा परिवर्तन करने की कोशिश की जा रही है कि भारतवंशी बहुमत में होकर भी कभी सत्तासीन न हो सकें।

कुछ-कुछ वैसी हवा मॉरिशस में भी है। हालांकि वहां भारतीय मूल के लोगों की संख्या ७० प्रतिशत है, परन्तु जो मूल रोग भारतीयों को भारत में सताता है, वही मूल रोग विदेशों में पहुंचने पर भी उन भारतीयों का पीछा नहीं छोड़ता। वह मूल रोग है आपस में संगठित न रहना। मॉरिशस में राजनीतिक पार्टियों की कमी नहीं है, विचार-स्वातंत्र्य की भी कमी नहीं है, लोकतंत्र के प्रति आग्रह की भी

कमी नहीं है और महाशक्तियों की कूटनीति की भी कमी नहीं है। जब से मॉरिशस आज़ाद हुआ है, तब से भारत के बाहर एक मात्र मॉरिशस ही ऐसा देश रहा जहां भारतवंशी अपनी सरकार बनाने में सफल हो सके। उनको भी आपसी खींचतान का, व्यक्तित्वों के टकराव का और राजनीतिक उलझनों का कम सामना नहीं करना पड़ता। वहां अब भी कुछ लोग फ्रांस और ब्रिटेन के समर्थक हैं, कुछ वामपंथी भी हैं। परन्तु अधिकांश भारतवासी भ्रष्टाचार—मुक्त स्वच्छ प्रशासन देने वाली सरकार की कामना करते हैं। सत्ता एक ऐसी चीज है जिसकी उपमा हमेशा काजल की कोठरी से दी जाती है। सत्ता प्राप्त करने के पश्चात् भ्रष्टाचार के जितने अवसर सुलभ हो जाते हैं, उनसे बच पाना सबके लिए संभव नहीं हो पाता। सत्तालोलुप लोग एक—दूसरे की टांग खींचने को ही राजनीति समझते हैं। वही स्थिति मॉरिशस में भी है।

मॉरिशस—वासी मूलतः भारतीय होने के कारण हमेशा भारत की ओर बड़ी आशा भरी दृष्टि से देखते हैं, परन्तु भारत सरकार अपने विदेशस्थ बन्धुओं के प्रति हमेशा उदासीन रही है। फीजी में सरकार का तख्ता पलटने पर आस्ट्रेलिया—वासियों को वहां से निकालने के नाम पर आस्ट्रेलिया ने तो अपना नौसैनिक बेड़ा भेज दिया, परन्तु भारत सरकार ने जंबानी जमा खर्च के सिवाय कोई और सहायता नहीं की। मॉरिशस—वासी भारत के साथ अपनी कितनी एकात्मता अनुभव करते हैं, यह इसी बात से स्पष्ट है कि भारत के बाहर अन्तर्राष्ट्रीय आर्य महासम्मेलन और विश्व हिन्दी सम्मेलन मॉरिशस में ही संभव हुआ। फ्रांसीसी, अंग्रेजी और क्रियोल की प्रमुखता होते हुए भी मॉरिशसवासियों में हिन्दी के प्रति जितना प्रेम है, उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलेगा। भारत से जब भी कोई सांस्कृतिक संस्था मॉरिशस से कोई आदान—प्रदान करना चाहती है, तो मॉरिशस—वासी हमेशा उसका स्वागत करते हैं। पिछले दिनों वहां की सरकार के निमंत्रण पर डी०ए०वी० कालेज कमेटी का शिष्टमण्डल वहां गया तो उसका जैसा स्वागत हुआ उसमें औपचारिकता कम, हार्दिकता अधिक थी। शिष्टमण्डल ने चारों वेदों के २५० सैट वहां की सरकार को भेंट किए और सरकार ने भव्य समारोह करके विभिन्न संस्थाओं में उन सैटों का वितरण किया। शिष्टमण्डल ने एक लाख रुपए की धार्मिक और भारतीय संस्कृति—सम्बन्धी पुस्तकें (जिनमें नृत्य, संगीत, आयुर्वेद और दर्शन आदि भी शामिल हैं) भेजने की घोषणा की, जिससे मॉरिशस वासी हर्षोत्फुल हो उठे। परिणामस्वरूप उन्होंने अपने यहां के तीन कालेज डी०ए०वी० कालेज कमेटी के सुपुर्द कर दिये, जिनमें शिक्षा की व्यवस्था डी०ए०वी० कालेज कमेटी की ओर से होगी। इसके बदले में शिष्टमण्डल ने मॉरिशस के विद्यार्थियों को यहां डी०ए०वी० संस्थाओं में और तकनीकी तथा आयुर्वेदिक कालेज में शिक्षा प्राप्त करने के लिए मॉरिशस के छात्रों

को अनेक प्रकार की छात्र-वृत्तियां देने की घोषणा की। जो काम भारत सरकार को करना चाहिए था, वह काम डी०ए०वी० कालेज कमेटी के इस शिष्टमण्डल ने किया। इसलिए उसका स्वागत होना ही था।

इसके अतिरिक्त अगस्त में ही वहां आम चुनाव हो रहे हैं। हिन्द-महासागर का यह मोती फिर राजनीतिक भंवर में हैं। यदि वहां के भारतवासी संगठित रूप से इस चुनाव में निश्चित दिशा नहीं अपनायेंगे, तो मॉरिशस में भी फीजी वाली हालत हो सकती है। हमने जिन ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक कारणों का ऊपर विवेचन किया है उनको देखते हुए मॉरिशस का यह आगामी आम चुनाव वहां के निवासियों के लिए तो महत्त्वपूर्ण होगा ही भारत के लिए भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

१६ जुलाई १९८७



पं० क्षितीश जी ने अपने देश में और विदेश में अनेक यात्राएं की थीं। वस्तुतः वे पर्यटन द्वारा ज्ञान-संवर्धन में इतनी रुचि रखते थे कि वे स्वयं को 'चिर-यायावर' मानते थे, और उन्होंने 'चक्र-चरण' के उपनाम द्वारा इसी भाव को व्यक्त किया था। उनकी यात्राओं का कुछ विवरण इस प्रकार है:

१. कैलाश-मानसरोवर, सन् १९३७
२. चकरीता से शिमला, शिमला से कुल्लू, कूल्लू से डलहौजी-चम्बा पठानकोट, सन् १९३८
३. अमरकंटक और बस्तर, सन् १९४०
४. पण्डिम का प्रथम भारतीय पर्वतारोहण अभियान, सन् १९५१
५. कश्मीर से नूरीछम और कोसरपीर की यात्रा, सन् १९४४
६. पांगी की दुर्गम यात्रा, १९६१
७. कश्मीर से कन्याकुमारी और द्वारका से इम्फाल तक भारत-दर्शन।
८. उत्तराखंड-यमुनोत्री, गंगोत्री, केदारनाथ, बद्रीनाथ, सन् १९८३
९. रिवालसर, मण्डी, कुल्लू, मनाली, रटांग जोत, सन् १९८४
१०. विदेश यात्राएं :
 १. तिब्बत २. नेपाल ३. बांग्लादेश ४. मॉरीशस
 ५. केनिया-नैरोबी ६. लन्दन-ब्रिटेन

इस्लाम का घेरा

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को आंख खोलकर देखें तो ऐसा लगता है कि भारत को चारों ओर से इस्लामी देशों से घेरने का कोई गहरा षड्यन्त्र चल रहा है। उस षड्यन्त्र का केन्द्र पाकिस्तान है। सऊदी अरेबिया तथा अन्य इस्लामी देश इस षड्यन्त्र में पाकिस्तान के सहयोगी हैं। पिछले दिनों यह खबर भी आ चुकी है कि ना ना करते हुए भी पाकिस्तान के पास चार परमाणु बम मौजूद हैं।

पाकिस्तान के इस्लामी देश होने पर भी जनरल जिया ने आम चुनाव में अनपढ़ जनता से वोट प्राप्त करने के लिये अपने देश के पुनः इस्लामीकरण का नारा दिया है। यह नारा कहां तक सफल होगा यह तो चुनाव होने पर ही पता लगेगा, परन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि इस नारे से उन्होंने पाकिस्तान के मुल्ला-मौलवियों को अपने हक में कर लिया है। उक्त षड्यन्त्र की नई कड़ी है बांग्लादेश का इस्लामी देश घोषित होना। रूसी सेना के अफगानिस्तान से हटने का दौर शुरू होते ही जिस तरह अमरीका और पाकिस्तान में मुजाहीद्दीन को आधुनिक हथियार देकर जलालाबाद और काबुल पर कब्जा करने की प्रेरणा दी है और नजीब की सरकार को गिराने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया है, वह भी इसी षड्यन्त्र की भूमिका का विस्तार हैं। चीन भले ही इस्लामी देश नहीं है, पर जिस प्रकार पाकिस्तान और अमरीका से उसके राजनीतिक गठबंधन हैं, उससे वह भी इस षड्यन्त्र का एक सरगना ही सिद्ध होता है। अधिक संभावना यह है कि जिया यदि बांग्लादेश और पाकिस्तान को पुनः एक करने के अपने प्रयत्न में सफल हो गये, तब वे चीन की सहायता से जम्मू-कश्मीर को हड़पने का प्रयत्न करेंगे और तब 'यूनाईटेड स्टेट ऑफ पाकिस्तान' के नाम से एक नया इस्लामी संघ राज्य बनायेंगे। अभी तो यह उनका दिवा-स्वप्न प्रतीत होता है परन्तु सभी सपने चरितार्थ होने से पहले दिवास्वप्न ही होते हैं।

सबसे अधिक आश्चर्य इस बात से होता है कि जिस पूर्वी पाकिस्तान ने उर्दू को पाकिस्तान की एकमात्र राष्ट्रीय भाषा बनाने के विरोध में, अपने हजारों युवकों की शहादत दी थी और पाकिस्तान का उपनिवेश बनने से इंकार करते हुए स्वतन्त्रता का शंख-नाद बजाकर नया सोनार बांग्लादेश तैयार किया था, वही

अब जनरल इरशाद के हथकंडो से पुनः इस्लामी देश बनकर पाकिस्तान की झोली में जाने की तैयारी कर रहा है। वह उसका अपने ही इतिहास के साथ विश्वासघात है। अब बांग्लादेश के संविधान में 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द को हटाकर "अल्लाह पर ईमान" कर दिया गया है, और उसका संविधान 'बिसमिल्ला—उर—रहमान—उर—रहीम' के शब्दों से होगा।

सऊदी अरब देशों से पाकिस्तानी सेना लौट आने के बाद जनरल इरशाद अब वहां अपनी सेना भेजने की ताक में है। इधर सन् १९८२-८५ में दो बार सऊदी अरब की यात्रा करके, उससे मिलने वाले पैट्रो—डालर के प्रवाह को अपनी और खींचने का भी प्रयास किया है। भावुक बंगालियों को हटाने के लिए इरशाद ने यह प्रचार भी चालू कर दिया कि सन् ४७ तक तो हम हिन्दुस्तान में ही थे। फिर जब पाकिस्तान बना तो हमें हिन्दू मानकर हिकारत की नजर से देखा जाने लगा। अब वह समय आया है जब हम सही मुसलमान बनें। अब वे बंगाली होने की बात के स्थान पर मुसलमान होने की बात को प्रमुखता देने लगे। उन्होंने कहा, अब हमें "इस्लाम के बारे में बोलना है, इस्लाम के बारे में सोचना है और इस्लाम का ही सपना देखना है"। अपनी इस घोषणा को अमली रूप देने के लिये उन्होंने रविवार की साप्ताहिक छुट्टी के स्थान पर शुक्रवार को छुट्टी घोषित कर दी, जकात बांटने की व्यवस्था की गई, इमामों को भत्ता दिलाया मस्जिदों को बिजली और पानी निःशुल्क कर दिया और देखते ही देखते वहां पैट्रो—डालर की कृपा से पुरानी मस्जिदों पर नया रंग—रोगन हो गया और नई मस्जिदों की संख्या बढ़ने लगी। इरशाद ने भाषाई शहीद दिवस पर अल्पनाएं बनाने को गैर—इस्लामी बताया; और मदरसों में अरबी भाषा अनिवार्य रूप से पढ़ाने की व्यवस्था कर दी।

१६ दिसम्बर १९७१ को ढाका के पतन और पाकिस्तानी सेनाओं के आत्मसमर्पण के साथ जिस बांग्लादेश का उदय हुआ था, क्या वह बांग्लादेश अपनी धर्मनिरपेक्षता को, जो स्वतन्त्रता की पहचान थी, बीस वर्ष तक भी कायम नहीं रख सका? और केवल सत्रह साल बाद ही उसी गड्ढे में गिर गया, जिस गड्ढे से इतनी मुश्किल से उभरा था? क्या यह पाकिस्तानी षड्यन्त्र की विजय—घोषणा नहीं है?

१७ जुलाई १९८८

क्या भारतीयों की आत्मा मर गई है?

एक बार डॉ० अमरनाथ झा ने, जब वे हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष बने थे, तब हिन्दी वालों पर रंज करते हुए कहा था कि हिन्दी वालों की आत्मा पता नहीं क्यों स्त्री-लिंग हो गई है। जानकार लोग जानते हैं कि संस्कृत में आत्मा शब्द पुल्लिङ्ग ही व्यवहृत होता है। परन्तु हम तो यहां आत्मा के केवल स्त्रीलिंग होने की बात नहीं कह रहे, उसके मर जाने की बात कह रहे हैं; और वह भी केवल हिन्दी वालों की नहीं समस्त भारतीयों की। इस प्रसंग में आत्मा के अजर और अमर होने की बात कह कर आत्मा के मर जाने के मुहावरे का रसभंग मत करिये। स्वतंत्रता दिवस के अवसर पर हम भारतीयों पर यह आरोप लगा रहे हैं, इसका हमको भी कम दुःख नहीं है। बल्कि यह राष्ट्रीय पर्व होने के कारण मन की व्यथा और बढ़ गई है। पाठक पूछेंगे क्यों?

पिछले दिनों आर्य जगत् में हम प्रथम पृष्ठ पर यह समाचार दे चुके हैं कि फीजी के राष्ट्रपति ने वहां के समस्त भारतीयों का धर्मान्तरण करके उनको बलात् ईसाई बनाने की धमकी दी है। इस धमकी के जवाब में अब तक न तो भारत सरकार ने अंगुली उठाई है, और न ही अन्य किसी संस्था ने। आप ज़रा कल्पना करिये कि यदि भारत सरकार ने इस प्रकार की कोई घोषणा की होती और कहा होता कि भारत भर के समस्त ईसाईयों को हिन्दू बना लिया जायेगा और यदि वे हिन्दू बनना स्वीकार नहीं करेंगे तो उनका यहां रहना मुश्किल कर दिया जायेगा, तो सारे संसार में कितना तहलका मच जाता। जितनी महाशक्तियां हैं, वे सब ईसाई-मतावलम्बी होने के कारण इस प्रकार की घोषणा पर उबल पड़तीं और भारत की सरकार को असम्यक् जंगली और अमानवीय आदि विशेषणों से सम्बोधित करने से बाज़ नहीं आतीं। परन्तु फीजी के राष्ट्रपति की उक्त घोषणा पर वे सब चुप हैं। एक तरह से कहना चाहिये कि वे प्रच्छन्न रूप से उसको सहयोग दे रही हैं। यह साम्राज्यवाद का सबसे धिनौना रूप है।

भारत सरकार की घुप्पी का हाल यह है कि विदेश राज्यमन्त्री और विदेश सचिव वहां के हालात का अध्ययन करने के बाद जब लौटकर आये, तब उन्होंने यह रिपोर्ट दी कि फिलहाल फीजी में सत्ता-परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है। जनरल

राबुका के पैर अच्छी तरह जम गये हैं, और उनकी जितनी विरोधी राजनैतिक शक्तियाँ थीं, उनमें अब कोई दम नहीं रहा है। अगर हमारी सरकार की दिलचस्पी केवल फीजी की सरकार में ही होती, तो शायद इस प्रकार की नीति कुछ मायने भी रखती। परन्तु यह भूलने वाली बात नहीं है कि फीजी में भारतीय बहुसंख्यक हैं। फीजी के निर्माण में और उसे आधुनिक राष्ट्र बनाने में इन भारतीयों का ही सबसे बड़ा योगदान है। इन भारतीयों ने लोकतंत्र के माध्यम से वहाँ सत्ता पर अधिकार भी कर लिया था, परन्तु सैनिक-क्रान्ति के द्वारा उस लोकतंत्र को समाप्त कर दिया गया। अब राबुका की सरकार केवल सत्ता हथियाने और लोकतंत्र को समाप्त करने से ही सन्तुष्ट नहीं है, बल्कि और गहरी चाल चलकर भारतीयों की अस्मिता और अस्तित्व को सर्वथा समाप्त करने पर तुली है। शक्ति-सन्तुलन के अन्तर्राष्ट्रीय ढांचे में क्या भारत इतना पौरुषहीन हो चुका है कि वह फीजी में भारतीयों को पुनः सत्तारूढ़ करने की तो बात ही क्या, उनके मूलभूत अधिकार तक को बचाने में असमर्थ है?

फीजी की कुल सात लाख की आबादी में से तीन लाख से अधिक भारतीय हैं, और राबुका के नये पैतरे का परिणाम यह हुआ है कि पिछले एक वर्ष के अन्दर वहाँ से ८ हजार तकनीकी और विशेषज्ञ लोगों को फीजी छोड़कर जाना पड़ा। हजारों अध्यापकों, चिकित्सकों और उद्योग-व्यापार में कुशल लोगों को फीजी छोड़ने के लिये बाधित होना पड़ा। अब वहाँ के भारतीयों की यह हालत हो गई है कि यदि किसी को फीजी के अलावा कहीं भी बस जाने का कोई मौका नजर आता हो तो वह उस मौके को हाथ से छोड़ना नहीं चाहेगा। जिन भारतीयों ने फीजी को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध किया, आज वे ही भारतीय आर्थिक दृष्टि से तंग आकर उसे छोड़ने पर मजबूर हो रहे हैं। क्या इन भारतीयों के हितों की रक्षा करना भारत सरकार का कोई कर्त्तव्य नहीं है?

राबुका को गुस्सा इस बात का है कि जिस तरह फीजी के मूल-निवासियों को सहज ही ईसा की भेड़ों में शामिल कर लिया गया, उसी तरह ये भारतीय भी गर्दन झुका कर ईसाईयत की शरण में क्यों नहीं आ जाते? परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि वैदिक धर्म जिस दृढ़ बौद्धिक और तर्कसंगत आधार पर टिका है उसकी तुलना संसार का कोई अन्य मत नहीं कर सकता। यह केवल फीजी का नहीं, संसार के उन सब देशों का इतिहास है, जहाँ-जहाँ भारतवंशी गये। वहाँ भले ही वह कुलीगिरी और मेहनत मजदूरी करने के लिये गये हों, चूँकि उनकी अपने धर्म पर आस्था इतनी दृढ़ थी और उनका आचरण अन्य सब मतावलम्बियों से इतना श्रेष्ठ था कि साम्राज्यवादी शक्तियों के सारे प्रलोभन और ईसाईयत के प्रचार के लिये अंधाधुंध बहाया गया धन भी उन हिन्दुओं को अपने धर्म से विचलित नहीं

कर सका। केवल फीजी में ही क्यों, मॉरिशस में, गुयाना में, सुरिनाम में और ट्रिनीडाड आदि उपनिवेशों में जहां-जहां भारतीय गये वहां-वहां की यही कहानी है। उन प्रदेशों के मूल-निवासियों को जिस ईसाईयत के नाम पर उनकी जंगली कुप्रथाओं से हटा कर उन्हें भले ही सभ्य बना लिया हो, परन्तु वैदिक धर्मावलम्बियों की दृष्टि में ईसाईयत का सांस्कृतिक स्तर कहीं भी उनके समकक्ष नहीं है। यह बात न होती तो आज सारे संसार के बुद्धिमान् लोग वैदिक धर्म के उन उदात्त दार्शनिक तत्त्वों की ओर आकृष्ट न होते।

यहीं हम एक बात यह कह देना चाहते हैं कि यह हिन्दू-धर्म वह नहीं है, जिसका प्रचार पुरी के शंकराचार्य करते हैं। वे कहते हैं कि जात-पात और छुआछूत तथा स्त्रियों को समानता का दर्जा न देना हिन्दु धर्म का अंग है। वे सती-प्रथा और बाल-विवाह का भी समर्थन करते हैं, विधवा-विवाह का विरोध करते हैं और बलि प्रथा का विरोध करने में उनकी ज़बान लड़खड़ाती है। हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि ऐसा अंधविश्वासों से भरा धर्म ईसाईयत और इस्लाम का मुकाबला नहीं कर सकता। उसे तो उनके सामने पराजित होना ही पड़ेगा। परन्तु हिन्दू धर्म का शुद्ध रूप तो वह है जिसमें न अवतारों का स्थान है, न मूर्तियों का स्थान है न पैगम्बरों का स्थान है, न मनुष्य और परमात्मा के बीच किसी मध्यस्थ बनने वाले का स्थान है, और न इतिहास के कालक्रम में विदेशियों एवं विधर्मियों के सम्पर्क से हिन्दू समाज में घर कर गई कुप्रथाओं का स्थान है। असली धर्म तो वेदानुमोदित है, वह तर्कशुद्ध है, बुद्धिसंगत है, वह विज्ञान सम्मत है, वह सृष्टि के नियमों के अनुकूल है और मनुष्य-जाति को उन्नति की ओर ले जाने वाला दिव्य सोपान है। हिन्दू धर्म का मूल वही वैदिक आदर्श है। इसलिये जब राबुका यह कहते हैं कि फीजी के मूल निवासियों को नरबलि की प्रथा से हटाकर हमने ईसाईयत की दीक्षा देकर उन्हें सभ्य बनाया है। तो यह स्मरण रखना होगा कि पशुओं या मनुष्यों की बलि देने की प्रथा वैदिक धर्म की देन नहीं है, वह ईसाईयत और इस्लाम की ही देन है। बलि-प्रथा का समर्थन करने वाला हिन्दुत्व किसी भी हालत में ईसाईयत या इस्लाम से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता। इसलिये धर्म के नाम पर हमें भारत में या विदेश में उसी विचारधारा पर जोर देना होगा। वह धर्म ईश्वर और सृष्टि के विज्ञान-सम्मत स्वरूप का समर्थक वैदिक धर्म ही है।

क्या फीजी के भारतवासियों के सिर पर मंडराते इस संकट के प्रति भारत सरकार का कोई कर्तव्य नहीं है? क्या पोपपाल को भारत में बुलाकर स्वागत करने वाले और मिज़ोरम के आम चुनाव में एक अंग्रेज़ काऊबॉय की तरह रंग-बिरंगी पोशाक पहनकर घूमने वालों से कुछ आशा की जा सकती है? सारे भारत में साड़ी और बिन्दी लगा अपने पति के साथ सीता की तरह चलने वाली सोनिया गांधी के मन

में साम्राज्यवाद के इस घृणात्मक ईसाई रूप के प्रति क्या कोई वितृष्णा पैदा नहीं होती? यदि प्रधानमन्त्री की आत्मा इस समय नहीं चेतती हो तो क्या समस्त इंडोईयों की आत्मा भी मर गई? या उनको चमचागिरी से फुर्सत नहीं है? हम विपक्षी-धुरन्धरों से पूछना चाहते हैं कि वे राजीव गांधी को हटाने के एक-सूत्रीय कार्यक्रम के प्रति जिस जोश और खरोश से जुटे हुए हैं, क्या फीजी की यह घटना उनकी आत्मा को नहीं कचोटती? हम धर्मध्वजियों से पूछते हैं कि क्या उनकी दृष्टि में उनके अपने हलवे-मांडे के सिवाय शेष सारा संसार इतना मिथ्या है कि फीजी की इस घटना की ओर ध्यान देना उन्हें उचित विदित नहीं होता?

यदि सरकार, राजनैतिक नेता और धर्मध्वजी गुरुओं की आत्मा मर गई है तो हम भारतवर्ष की जनता से पूछते हैं कि क्या उनकी भी आत्मा मर गई है? खासतौर से हम आर्य-बन्धुओं से पूछते हैं कि इस भयंकर वैदेशिक साम्राज्यवादी षड्यंत्र के विरोध में यदि और लोग अपनी ज़बान खोलते कतराते हैं, तो क्या तुम्हारी ज़बान को भी लकवा मार गया है? दक्षिण अफ्रीका, नाइजीरिया, अंगोला और फिलिस्तीन में साम्राज्यवाद के जघन्य रूप का विरोध करने की फुर्सत तो हमें है, पर अपने भारतीय-बंधुओं की रक्षा की कोई चिन्ता नहीं है? यदि अपने उन भारतीय बंधुओं की रक्षा भारतीय नहीं करेंगे तो और कौन करेगा?

१४ अगस्त १९८८



धर्म को केवल मोक्ष-प्राप्ति का साधन मानकर उसको आध्यात्मिकता में आबद्ध करने से वेद-प्रतिपादित धर्म का सही रूप दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। आचार-व्यवहार के जिन नियमों से केवल व्यक्ति नहीं, साधना-पथ पर चलने वाला मोक्षाभिलाषी साधक ही नहीं, बल्कि पूरा समाज और सम्पूर्ण राष्ट्र टिका रहता है, वह भी तो धर्म है। उसी को हम राष्ट्र-धर्म कहते हैं। तभी 'धारणाद् धर्म इत्याहुः' की परिभाषा सार्थक होती है। इसलिए महर्षि जैमिनि ने धर्म की परिभाषा करते हुए निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष के साथ-साथ, बल्कि उससे पहले 'अभ्युदय' को रखा है। 'युतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'; केवल अभ्युदय या केवल निःश्रेयस की बात करने से भी धर्म पंगु बन जाता है। ऐसा एकांगी धर्म बहुआयामी मानव-जीवन के साथ कैसे सुसंगत होगा?

—'चयनिका', पृष्ठ २२०

सुभाषित

परमात्मा सच्चिदानन्द—स्वरूप है, इसलिए सदा आनन्द की स्थिति में रहना परमात्मा के सान्निध्य की ओर उन्मुख होना है। सदा प्रसन्न रहो। दिन में कम से कम दो बार खूब खुलकर हंसो। खुल कर हंसने से रोग और शोक पास नहीं फटकते। गीता (२/६५) में लिखा है — “प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।” जो सदा प्रसन्नचित रहता है उसकी बुद्धि भी शुद्ध होकर दुविधाओं से बच जाती है।

“सुख में सभी हंसते हैं, तुम दुःख और संकट में हंसना सीखो। सांसारिक झंझटों में रहकर भी जो प्रसन्नता को तिलांजलि नहीं देता, वह योगी के सदृश है। मुस्कराहट—रहित चेहरा असमय मुरझाने वाली कली के समान है, और हंसमुख चेहरा उस खिले हुए पुष्प के समान है जो देखने वालों को ताज़गी और सुगन्ध देता है।”

(— कस्यचित्)

आधी दुनिया एक तरफ

१९८६ का वर्ष अनेक आशाओं और सपनों के साथ शुरू हुआ है। परन्तु कोई ऐसी आशा नहीं है जिसके पहलू से निराशा न जुड़ी हो और कोई ऐसा सपना नहीं है जो यथार्थ के धरातल पर बिखर न जाये। फिर भी आशाओं और सपनों का अपना महत्त्व है और उनके बिना मानव जीवित नहीं रह सकता। इसीलिए सज्जन लोग सलाह देते हैं— “हमेशा अच्छे की आशा करो और बुरे का सामना करने के लिए तैयार रहो।” जीवन का यही स्वर्णसूत्र है।

यह वर्ष अनेक आशाओं से भरा हुआ इसलिए भी है कि देश में नये चुनाव होने हैं। चुनावों से पहले शासक दल और विपक्षी दल अपनी-अपनी बिसात बिछाने में लगे हैं और तरह-तरह के नारों और आश्वासनों से जनता को अभी से भ्रमाने लगे हैं। उधर जनता—जनार्दन तटस्थ भाव से सारा नाटक देख रही है और अपने विवेक के बाजू तोल रही है। क्योंकि लोकतन्त्र की प्रणाली ने जन-सामान्य में जो अस्मिता की भावना जागृत की है उसकी सार्थकता का अवसर आने वाला है। फिर इस बार तो मतदाता की आयु घटाकर १८ वर्ष कर दी गई है, जिससे लगभग ५ करोड़ मतदाताओं की संख्या और बढ़ जायेगी। कानून की दृष्टि से जिस उम्र में नवयुवक को विवाह करने का अधिकार नहीं है, उसी उम्र में उसको वोट डालने का अधिकार दिया जा रहा है। यह पहला अवसर है जब तरुणाई

की देहली पर खड़ी नई पीढ़ी देश के भविष्य के सम्बन्ध में अपने मत का प्रयोग करेगी। संसार के किसी और देश में भी ऐसी सुविधा है या नहीं, नहीं मालूम।

जिन आशाओं की ओर हमने संकेत किया है, उनमें इस समय सारे संसार में लोकतन्त्र की ओर बहती हवा का प्रभाव है। इस हवा को बहाने का सबसे अधिक श्रेय यदि किसी को दिया जा सकता है तो वह सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्बाचेव को। उन्होंने न केवल अपने देश में इस प्रकार की हवा बहाई, बल्कि अफगानिस्तान से सेना हटाने और अमेरिका के साथ आणविक हथियारों की होड़ खत्म करने का फैसला करके एक नई दिशा दी है। यदि उन्होंने पहल न की होती तो शायद शांति की जिस किरण की ओर हम आशा की दृष्टि से देख रहे हैं वह कहीं नहीं होती। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र के अलावा जब राष्ट्रीय क्षेत्र की ओर नज़र दौड़ाते हैं, तो शीत-युद्ध और शीत-लहर में भी शान्ति की वासन्ती बयार का आभास होता है।

चीन हमारा महान् पड़ोसी है। सन् ६२ से लेकर अब तक पिछले २६ वर्षों में उसके विश्वासघात का शिकार होकर भारत ने जो लांछना और मानसिक वेदना सही है, उसे केवल भारतवासी ही जानते हैं। पंचशील के प्रतिष्ठाता और शान्ति के सफेद कबूतर उड़ाने वाले पं० जवाहर लाल नेहरू ने "हिन्दी-चीनी भाई-भाई" का नारा देकर जिस तरह सारे देश को आत्ममुग्ध किया था और स्वयं अपने मन में एक खयालों की दुनिया बसाई थी, वह सब एक झटके में धराशायी हो गया। विश्वासघाती चीनी अजगर की विषैली फुंकार ने ही नेहरू को अपने प्राणों की कीमत पर यथार्थ का बोध कराया।

तब से दोनों देशों के मध्य जो अविश्वास की दीवार खिंची वह "चीन की ऐतिहासिक दीवार" से भी बड़ी सिद्ध हुई। चीन ने भारत की चौदह हजार वर्ग मील ज़मीन पर अवैध कब्ज़ा कर लिया और पश्चिमी क्षेत्र के बाद पूर्वी क्षेत्र में अरुणाचल की ओर भी अपने पांव पसारने शुरू कर दिये। यूं भी चीन के इतिहास में विश्वासघातों की शृंखला कम नहीं रही और चीनियों की मुस्कान के पीछे हमेशा उनका हिंसा-प्रधान इतिहास झांकता रहा। साम्राज्यवाद के जिस दुर्दमनीय पंजे से निकल कर और 'अफ्रीमचियों के देश' के नाम की उक्ति को झुठलाकर माओ की साम्यवादी क्रान्ति के माध्यम से जिस प्रकार उसने नवजीवन पाया उस क्रान्ति में रक्तपात कम नहीं हुआ था। सोवियत संघ की साम्यवादी क्रान्ति में भी रक्तपात कम नहीं हुआ था। तब से साम्यवाद के साथ हिंसा का भी एक अनिवार्य तत्त्व जुड़ता चला गया।

परन्तु अब जो यह नयी हवा चली है, उसने जहां रूस के नेताओं के मन में परिवर्तन किया है, वहां चीनी नेताओं के मन में भी उसी हवा का परिणाम है —

राजीव गांधी की चीन यात्रा और चीन के साथ हुए नये तीन समझौते। हालांकि इन समझौतों से सीमा की समस्या का समाधान नहीं हुआ, और गहराई से देखा जाये तो शायद चीनी नेताओं ने फिर भारत को छल लिया है। क्योंकि इस यात्रा की सबसे बड़ी उपलब्धि यदि कोई कही जा रही है तो यही कि सीमा-सम्बन्धी विवाद के समाधान के लिए एक विशेष कार्यकारी दल का गठन कर दिया गया है, जो दोनों देशों को मान्य किसी उचित समाधान की तलाश करेगा।

समझौतों में सबसे बड़ी जो बात हुई वह यह कि जिस पक्ष को आक्रमण का शिकार होना पड़ा, अपनी ज़मीन गंवानी पड़ी और जिसको सही शिकायत हो सकती थी, उसे भी आक्रमणकारी और विश्वासघाती के समकक्ष मान लिया गया। आखिर चीन ने ही तो भारत की ज़मीन हड़पी थी, भारत ने तो नहीं। इसके अलावा सन् १९१४ में चीन ने तिब्बत के सम्बन्ध में जिस सन्धि पर हस्ताक्षर किये थे और मैकमोहन रेखा को स्वीकार किया था, उसका उल्लंघन उसी ने तो किया था भारत ने तो नहीं। राजीव गांधी अपनी इस यात्रा में जहां तिब्बत का पट्टा सदा के लिए चीन को सौंप आये, वहां सन् १९६२ में भारतीय संसद द्वारा सर्वसम्मति से पारित उस प्रस्ताव को भी भूल गये, जिसमें चीन द्वारा बलात् अधिकृत भारत की भूमि का एक-एक इंच मुक्त करवाने का संकल्प किया गया था।

परन्तु उसी स्थिति पर अड़े रहने से तो समस्या सुलझने के कोई आसार थे ही नहीं। अब दोनों देशों के मध्य कम से कम संवाद तो शुरू हुआ। इस संवाद के माध्यम से हम कोई न कोई सही रास्ता निकालने की उम्मीद कर सकते हैं। यहां भी आशा के साथ निराशा तो जुड़ी हुई है ही।

इसी तरह संवाद की स्थिति पाकिस्तान के साथ भी शुरू हुई। उसके साथ भी भारत ने तीन समझौते किये हैं और वह भी पाकिस्तान में लोकतन्त्र के पक्ष में बहती नई हवा का परिणाम समझा जा सकता है। ग्यारह साल की कठोर जिया-शाही के शासन के तले पिसने के बाद कैसा विचित्र संयोग है कि वही सर्वसत्ताधीश जनरल जिया अचानक विमान-दुर्घटनाग्रस्त होकर इस धराधाम से विदा हो गये, और जिस भुट्टो को अपने रास्ते का कांटा समझकर उन्होंने फांसी दी थी, उसी भुट्टो की बेटी बेनजीर अब पाकिस्तान की प्रधानमंत्री बन गई। आश्चर्य है कि पाकिस्तान की जनता ने जिया को इतनी जल्दी और इतनी आसानी से अपने स्मृति-पटल से पोंछ दिया और मुल्ला-मौलवियों तथा अपने आपको इस्लाम का अलम्बरदार कहने वालों के तीव्र विरोध के बावजूद ३५ साल की एक लड़की-जिसे अब महिला कहना चाहिए, ऐसी बेनजीर साबित हुई कि इस्लाम के सारे इतिहास में उसकी कोई नज़ीर नहीं मिलती। आश्चर्य है कि बेनजीर के प्रधानमंत्री बनने पर जहां अन्य देशों ने पाकिस्तान में लोकतन्त्र की बहाली पर अपनी प्रसन्नता प्रकट

की, वहां अभी तक किसी इस्लामी देश ने अपनी चुप्पी नहीं तोड़ी। ऐसा लगता है कि इस्लामी देश अभी इस घटना को पचा नहीं पाये, और वे दांतों-तले अंगुली दबाकर हैरानी से देख रहे हैं कि यह क्या हो गया!

हमारी चिरकाल से यह धारणा रही है कि पाकिस्तान की जनता और पाकिस्तान के शासक दोनों की दिशाएं हमेशा एक नहीं रहीं। पाकिस्तान की जनता में भारत-विरोध की वैसी भावना कभी नहीं रही, जैसी उसके शासक अपनी जनता में भरने का प्रयत्न करते रहे हैं। वे शासक इस भारत-विरोध की भावना की उग्रता के बल पर ही अपनी गद्दी बचाये रखना चाहते थे। परन्तु जब से भारत से गये मुसलमानों का, जिन्हें वहां मुजाहिर कहा जाता है स्वप्नभंग हुआ है, तब से उनके सामने पाकिस्तान के निर्माण ने एक प्रश्न-चिह्न खड़ा कर दिया है। जो असल में पाकिस्तान के निर्माता थे और जिन्हें देश-विभाजन की सबसे अधिक कीमत चुकानी पड़ी, वही वहां दूसरे दर्जे के नागरिक बन कर रह गये।

इसी प्रकार का द्वैध हमें ब्रिटेन और अमरीका में भी नज़र आता है। ब्रिटेन और अमेरिका दोनों के शासक पाकिस्तान के पक्षपाती रहे हैं, क्योंकि पाकिस्तान उनके साम्राज्यवादी मनसूबों की करामात थी, जबकि उन दोनों देशों की जनता पाकिस्तान की उतनी पक्षपाती कभी नहीं रही। उन दोनों देशों में भी इस द्वैध का मूल कारण शासकों के अपने स्वार्थ हैं। इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि सारे ब्रिटेन में जब वहां के निवासी किसी एशियाई को घृणा की दृष्टि से देखकर गाली देना चाहते हैं, तो इसके लिए वे लोग "ओ यू डैम पाकी" सम्बोधन का ही प्रयोग करते हैं।

चीन की आबादी अभी से एक अरब को पार कर चुकी है। भारत भी इस शताब्दी के अन्त तक एक अरब को पार कर जायेगा। इस प्रकार सारी दुनिया की आधी आबादी केवल इन दो महादेशों में सिमट गई है। इन दोनों महादेशों के साथ यदि सोवियत संघ को भी शामिल कर लें, तो ये तीनों देश मिल कर सारे संसार की आधी आबादी से काफी अधिक बढ़ जाते हैं। सोवियत संघ एशियाई भी है और यूरोपीय भी। वह मूलतः एशियाई है, परन्तु यूरोपीय बनने को उत्सुक है। वैसी ही उत्सुकता चीन और भारत में भी कम नहीं है। प्रच्छन्न रूप से पाश्चात्य औद्योगिक सभ्यता जिस तरह भारत, चीन और सोवियत संघ में अपने पांव पसारती जा रही है, वह शायद ऐतिहासिक अनिवार्यता है। परन्तु इसी पाश्चात्य सभ्यता ने जो साम्राज्यवाद के निरंकुश बीज बोये हैं, यदि उनको विफल करना है तो ये तीनों देश मिल कर बड़ी आसानी से कर सकते हैं। यदि इनके शान्ति-अभियान में पाकिस्तान जैसे पड़ोसी देश भी शामिल हो जाएं, तो संसार के लिए एक नई आशा जगा सकते हैं।

सुभाषित

संसार में जब तक तरुणाई है तब तक सम्यता का उल्टा होकर बहना सम्भव नहीं है। मले ही तरुणाई जिद्दी हो; किन्तु वह अपनी निर्धारित मंजिल पर बढ़ेगी। युगों से दारिद्र्य, दुःख, अज्ञान, युद्ध, असौन्दर्य और दासता के विरुद्ध होने वाली लड़ाई में तरुणाई ने अपने शत्रु पर लगातार कम-ज्यादा विजय पाई है। इसीलिए अधीर होकर मैं कभी नई पीढ़ी से विमुख नहीं हो पाती। मुक्ति केवल इसी माध्यम से मिलने वाली है।

(हिलेन केलर, 'मुक्त द्वार' में)

चीन का छात्र-आन्दोलन

भारत और चीन संसार के दो प्राचीनतम देश हैं और जनसंख्या की दृष्टि से भी वे संसार के सबसे अधिक आबादी वाले देश माने जाते हैं। सारे संसार की आबादी का लगभग आधा हिस्सा इन दोनों देशों में रहता है। अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं की दृष्टि से भी ये दोनों देश प्राचीनतम हैं। इनमें भी भौगोलिक क्षेत्रफल, आबादी और अब सैनिक तथा संहारक शक्ति की दृष्टि से भी चीन कहीं आगे है। संसार में सबसे बड़ी सेना चीन की है जो 'पब्लिक आर्मी' कहलाती है। रूस और अमरीका—इन दोनों देशों को सारे संसार ने महाशक्ति माना ही हुआ है। अब तीसरा स्थान चीन को दिया जाने लगा है। चीन के इस उत्थान को देखकर ही अमरीका जो कभी उसका सबसे बड़ा दुश्मन समझा जाता था, और चीन में बच्चों को अमरीकी राष्ट्रपति का पुतला बनाकर उसे अपनी बन्दूक की गोली से निशाना बनाने का अभ्यास करवाया जाता था, अब वही अमरीका और चीन परस्पर दोस्त हैं। कारण यही है कि अमरीका की दृष्टि में चीन महाशक्ति के स्तर तक पहुँच गया है, या पहुँच रहा है। अमरीका यदि भारत द्वारा अग्नि—नामक प्रक्षेपास्त्र के सफल परीक्षण से खिन्न है, या उसके अणुशक्ति—सम्पन्न बनने पर चिन्ता व्यक्त करता है, (और इसी बहाने पाकिस्तान की सहायता करता है) अथवा भारत पर तरह-तरह के आर्थिक प्रतिबन्ध लगाना चाहता है, तो उसके पीछे अमरीका की यही मन्शा लगती है कि चीन महाशक्ति बन गया सो बन गया, किन्तु भारत कहीं महाशक्ति न बन जाये, नहीं तो एक और नया सिरदर्द खड़ा हो जायेगा।

चीन में सन् १९१६ से छात्र-आन्दोलनों की शुरुआत का इतिहास मिलता है। उस समय वह छात्र-आन्दोलन प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् वासीय (फ्रांस) में हुई

संधि के और पराजित राष्ट्रों के सम्मेलन के निर्णयों के विरोध में था और उसका रुख साम्राज्यवाद-विरोधी था क्योंकि सम्मेलन में चीन को पश्चिमी ताकतों के समान दर्जा देने से इंकार कर दिया गया था। चीन के छात्रों ने इसे अपने राष्ट्र का अपमान समझा और वे इसके विरोध में उठ खड़े हुए। उसके बाद ही सन् १९२१ में वहां कम्युनिस्ट पार्टी का जन्म हुआ और उसके बाद सन् १९४९ में वह समाजवादी लोकराज्य बन गया। तब से चीन सोवियत संघ का सहयोगी बन कर कम्युनिज़्म के पथ पर बड़ी तेज़ी से अग्रसर होता रहा।

माओत्सेतुंग जैसे प्रखर व्यक्ति के नेतृत्व में चीन में अद्भुत सांस्कृतिक क्रांति हुई और उसमें करोड़ों छात्रों को स्कूलों से हटाकर गांवों में भेज दिया गया। उस समय कहा गया कि किताबों में क्या रखा है, पढ़ाई-लिखाई से क्या होता है, सिद्धान्त थोथे हैं, जब तक उन पर अमल न हो। इस विचार-धारा से प्रभावित होकर सारी युवा पीढ़ी को गांव जाने वाली टोलियों में बदल दिया गया। उस समय के नौजवान माओत्सेतुंग को ईश्वर के तुल्य समझते थे और उनके लिये उसके शब्द और मूर्ति के सिवाय और कुछ सत्य न था। सन् १९६६ से १९७६ तक यह सांस्कृतिक क्रान्ति रही। परन्तु वस्तुतः ये अराजकता के वर्ष थे। इसीलिये सन् १९७६ में माओ की मृत्यु के बाद आन्तरिक शक्तियों का समीकरण फिर बदला और उस समय के छात्र-आन्दोलन ने चीन की सत्ता को बदलने में सफलता प्राप्त की।

इस सत्ता-संघर्ष में दो वर्ग साफ उभर कर आये, जिसमें एक वर्ग राजनीतिज्ञों और सैनिक कमाण्डरों का था और दूसरा आम जनता का। एक को आधुनिकतावादी कह सकते हैं और दूसरे को परम्परावादी, और दोनों ही वर्ग समय-समय पर अपनी जनशक्ति का आभास देने के लिये छात्रों का उपयोग करते रहे। उसी के बाद खुले द्वार की नीति का आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस नीति के परिणामस्वरूप चीन की विचारधारा में फिर एक नया परिवर्तन आया। तब कहा गया कि सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान जिन युवकों को गांवों में भेजा गया वे तो अनपढ़ और गंवार थे। आधुनिकीकरण की ज़रूरतें पूरी करने के लिये और उन्नत राष्ट्रों के बीच चीन का महत्त्वपूर्ण स्थान बनाने के लिए वे लोग बेकार हैं। आधुनिकीकरण के लिये पढ़े-लिखे और वैज्ञानिक प्रगति से परिचित युवकों की पंक्तियां तैयार करनी पड़ेंगी।

कहा जाता है कि सन् १९७६ से लेकर सन् १९८८ तक साठ हजार से अधिक चीनी विद्यार्थी विदेशों में पढ़ने के लिये भेजे गये, जिन में से करीब आधे युवक अब अपना अध्ययन समाप्त करके वापस चीन में आ चुके हैं। विदेशों से पढ़कर आये इन छात्रों की दृष्टि एकदम बदल गई है और वे अपने साथ विदेशी जनजीवन के प्रति रुझान भी लेकर आये हैं। पेइचिंग की कम्युनिज़्म की दीवारों

से घिरी हवाओं के बजाय उन्हें पश्चिमी देशों की हवा कई गुना अधिक ताज़गी देने वाली लगती है। विदेश से लौटे उन छात्रों में चीन के शीर्षस्थ राजनीतिज्ञों और कार्यकर्ताओं के बेटे-बेटियों की संख्या भी कम नहीं है। वर्तमान आन्दोलन की जड़ में नवयुवकों की विचारधारा का यह परिवर्तन भी एक विशेष कारण है।

भारत की तरह चीन भी कृषि-प्रधान देश है। जिस तरह भारत में शहरों के माध्यम से एक नया उपभोक्ता-संस्कृति का अनुयायी मध्यम वर्ग तैयार हुआ है, वैसा ही एक शहरी मध्यम-वर्ग चीन में भी तैयार हो गया है। औद्योगिकीकरण से बढ़ती त्वरित गति के कारण और दिन-प्रतिदिन बढ़ती महंगाई के बोझ से जीवन में असन्तोष पैदा होता ही है। वैसी ही परिस्थिति वहां भी पैदा हो गई है। जिस तरह भारत में विकास के नाम पर बढ़ते औद्योगिकीकरण और पश्चिमी देशों के बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रसार के कारण शहरी जीवन में अदने से अदने आदमी में भी उपभोक्ता-वस्तुओं के प्रति प्रलोभन और ललक बढ़ गई है, उसी तरह चीन के अन्दर भी। यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे शहरों से होती हुई गांवों तक भी पहुंच रही है। इस प्रवृत्ति ने युवकों में विलासिता की वस्तुओं के प्रति एक ऐसी तृष्णा पैदा कर दी है, जो स्वभाव से ही कभी तृप्त होना नहीं जानती।

उच्च-वर्ग के पास अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के साधन वैध या अवैध उपायों से जुट ही जाते हैं। इसीलिये नवधनाढ्यों की पंचतारा संस्कृति पनपती है, और उनकी देखा-देखी मध्यम-वर्ग अपनी अतिरिक्त आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये बेचैन रहता है। यह मनुष्य की मनोवैज्ञानिक दुर्बलता की निशानी है। यह सार्वत्रिक है, किसी देश में कम, किसी में अधिक। परन्तु सभी देशों में परम्परावाद और आधुनिकतावाद का यह संघर्ष दृष्टिगोचर होता है। कम्युनिज़्म की विचारधारा ने अभी तक कठोर अनुशासन की बदौलत जो आकांक्षाओं के घोड़े पर लगाम लगा रखी थी, अब उसमें दरार पैदा हो गई है और इसका विस्फोट सबसे पहले कम्युनिज़्म के आदिगुरु सोवियत संघ में हुआ। गनीमत यही है कि वहां यह आन्दोलन नीचे से नहीं, ऊपर से प्रारम्भ हुआ और स्वयं गोर्बाचेव ने धारा बदल दी। ग्लासनोस्त और पैरेस्त्रोइका के समर्थक वही गोर्बाचेव अब सोवियत संघ के राष्ट्रपति हैं, और वहां भी खुले द्वार की नीति और लोकतन्त्र की हवा बहनी प्रारम्भ हो गई है। जब बड़ा भाई कम्युनिज़्म के शिकंजे से निकल चुका तो छोटा भाई कैसे चुप रहता।

चीन का वर्तमान छात्र-आन्दोलन उसी चुप्पी को तोड़ने वाला है। इसके साथ ही सत्ता-संघर्ष भी शामिल है। एक वर्ग सैन्य-शक्ति के बल पर राष्ट्र को स्थायित्व देने का नारा देता है, और दूसरा वर्ग छात्रों की मांगों के साथ सहानुभूति रखने वाला है। आम जनता की सहानुभूति छात्रों के साथ है। सैकड़ों छात्रों को गोली

से भून कर सेना ने भंयकर रक्तपात के द्वारा अपने आकाओं की इच्छा के अनुसार जिस विशाल मैदान को छात्रों से खाली करवाया है, उसी मैदान में पहले भी आन्दोलनों के लिए छात्र जमा होते रहे हैं। पर समस्या इतनी आसानी से सुलझने वाली नहीं है। सरकार की हिंसक शक्ति छात्रों को कुचल सकती है, और शायद इस आन्दोलन को कुचलने में वर्तमान सरकार सफल भी हो जाये, परन्तु आम जनता की दृष्टि में उसकी साख समाप्त हो गई है। इसलिए छात्र और जनता के साथ सहानुभूति रखने वाले नेता भले ही इस समय सत्ता-संघर्ष में पिछड़ते दिखाई दें, परन्तु विश्व के पटल पर घटित होने वाली घटनाओं को देखते हुए अब चीन के लिए अपने परम्परावादी रास्ते पर चलना अधिक देर तक सम्भव नहीं होगा। सेना के बल पर आप मनो पर विजय प्राप्त नहीं कर सकते। इसके अलावा मानवीय नैतिकता का जहां तक प्रश्न है उसकी दृष्टि से समस्त संसार की सहानुभूति छात्रों के साथ होगी, चीन के वर्तमान नेताओं के साथ नहीं। वैसे भी वर्तमान बूढ़ी पीढ़ी शासन की बागडोर कब तक संभालेगी। यदि दो मास से चलने वाला छात्र-आन्दोलन इस समय संगठित हिंसा के सामने विफल हो भी जाये, तो वह विफलता उतनी ही क्षणिक होगी जितनी क्षणिक वर्तमान सत्ताधीशों की सफलता। चीन में कल क्या होगा, यह आज कौन कह सकता है?

११ जून १९८६



चीन में कम्युनिस्ट क्रांति के बाद माओ के आदेश से मुस्लिम-बहुल प्रदेश सिंक्वांग की ६ हज़ार मस्जिदें भूमिसात् कर दी गई, एक से अधिक विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया, सामूहिक हज-यात्रा रोक दी गई और विदेशों से पैसा लाने पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया गया। अनेक कब्रिस्तानों को हल चलाकर कृषि-योग्य भूमि में बदल दिया गया। वहां स्पष्ट कर दिया गया कि मज़हब केवल व्यक्तिगत आचरण का विषय है, इसलिए अपने घर में बैठकर उस पर आचरण करें, परन्तु अपने धर्म वालों का कोई संगठन नहीं बना सकते।

रूस में सन् १९०७ में मस्जिदों की कुल संख्या ७००० थी, परन्तु ४२ में वह संख्या घटकर केवल १३१२ रह गई और अब वहां सिर्फ २३ मस्जिदें बची हैं। वहां भी एक से अधिक विवाह निषिद्ध है और सारे रूस में केवल एक ही मुस्लिम मदरसा है।

—'चयनिका', पृष्ठ २०७

अयि भुवन-मन-मोहिनी !

प्रथम प्रभात उदय तव गगने
प्रथम सामरव तव तपोवने
प्रथम प्रचारित तव वन-भवने
ज्ञान-धर्म-कृत काव्य-वाहिनी !

अनिल-विकम्पित श्यामल अंचल
नील-सिन्धु-जल-धौत चरणतल
अम्बर-चुम्बित-भाल हिमाचल
शुभ्र-तुषार-किरीटिनी !

चिर-कल्याणमयी तুমि धन्या
देश-विदेशे वितरित अन्ना
जान्दवी-जमुना-विगलित-करुणा
पुण्य-पीयूष-स्तन्य-वाहिनी !
अयि भुवन-मन-मोहिनी !!

— रवीन्द्रनाथ ठाकुर

क्या भारत 'सुपर इण्डिया' बनेगा ?

परतन्त्रता के पाश में जकड़े और संसार की सबसे बड़ी साम्राज्यवादी शक्ति के पांव के नीचे पिसते हुए भारत ने सन् ४७ के १५ अगस्त आधी रात को जब स्वतन्त्रता प्राप्त की थी, तब अगले दिन सूर्योदय के साथ ही जब यह समाचार दिशाओं में फैला तो अनेक देश चकित हुए बिना नहीं रहे होंगे। देश-विभाजन की भयंकर त्रासदी से गुजरने के बाद इस देश को जैसी कठिन परीक्षाओं का सामना करना पड़ा वैसा अन्य देशों के साथ कम ही हुआ होगा। भारत आदर्शप्रिय देश रहा है। इसलिए उसने अपने उन्हीं आदर्शों के अनुरूप विश्व-शान्ति और विश्वमैत्री तथा तटस्थ नीति का राग अलापते हुए पंचशील के सिद्धान्त का आविष्कार किया। उसने आकाश में शान्ति-कपोत भी खूब उड़ाये। परन्तु जब सन् १९६२ में उसे चीन के हाथों पराजय का मुंह देखना पड़ा, तब देश को लगा कि जैसे वह अभी तक मोहनिद्रा में लीन था और यह भी, कि केवल कबूतर उड़ाने से बात नहीं बनती। संसार के अन्य देशों ने जहां अपनी दुकानों के बाहर विश्वशान्ति के बोर्ड लगा रखे थे, वहां अन्दर घातक हथियार जमा कर रखे थे। भारत ही ऐसा देश था जिसकी दुकान के बाहर विश्वशान्ति का बोर्ड तो था ही, अन्दर भी विश्वशान्ति के नारे और पोस्टर भरे पड़े थे।

उस मोहनिद्रा से जागने के बाद जब भारत ने करवट बदली तो उसका पहला परिणाम सन् १९६५ की लड़ाई में दिखाई दिया, जब भारत की सेना इच्छे-गिल नहर को पार करती हुई लाहौर के अन्दर तक घुस गई। युद्ध के मैदान में जीती हुई बाज़ी ताशकन्द की मेज़ पर राजनीतिक दांवपेच में उलझकर भारतीय जिजीविषा को निःसत्त्व ही नहीं कर गई, लाल बहादुर शास्त्री जैसे नर-रत्न को भी खो बैठी। उसके बाद जो भारत की जिजीविषा ने जोर मारा तो पाकिस्तान को तोड़कर बांग्लादेश को जन्म दिया और पाकिस्तान के ६० हजार सैनिकों को युद्धबन्दी बनाकर संसार को चकित कर दिया। तब महाशक्तियां फिर चौंकी। दुनिया के नक्शे को अपनी इच्छा के विपरीत किसी भी देश के इतिहास और भूगोल में परिवर्तन करने का वह एकाधिकार भारत जैसा अकिंचन देश कैसे ग्रहण कर सकता है? फिर भारत का इतना विशाल आकार, उसकी इतनी विशाल जनसंख्या और उसकी तटस्थ विदेश नीति के ध्वज के नीचे आते अधिकांश एशियाई और अफ्रीकी देश, वैज्ञानिकों की भीड़ और उसका दृढ़ औद्योगिक आधार — इन सब को देखकर उन महाशक्तियों को लगा कि अब भारत केवल इण्डिया नहीं रहा, वह 'सुपर इण्डिया' बनने की तैयारी कर रहा है।

बांग्लादेश के निर्माण के पश्चात् जिस तरह भारत ने श्रीलंका में सेना भेजी, मालदीप में अपनी सेना भेजकर सत्ता का तख्ता पलटने से बचाया, नेपाल की आर्थिक घेराबन्दी की और थल, वायु और नौसेना को आधुनिक शस्त्रों से सन्नद्ध करना प्रारम्भ किया, तब महाशक्तियों ने भारत की ओर न केवल टेढ़ी निगाहों से देखना प्रारम्भ किया, बल्कि उसकी तीखी आलोचना भी प्रारम्भ कर दी। पाकिस्तान क्योंकि साम्राज्यवादी शक्तियों की ही सृष्टि थी, इसलिए जहां उसका पुनर्विभाजन उन्हें गवारा नहीं हुआ, वहां उन्होंने सब तरह से पाकिस्तान की सहायता करके उसको भारत के मुकाबले में जवान पट्टा बनाकर पेश करने की कोशिश शुरू कर दी। अफगानिस्तान में सोवियत सेना के आगमन के पश्चात् अमरीका को पाकिस्तान की ओर अधिक सहायता करने का बहाना मिल गया। परन्तु सोवियत सेना के वापस लौट जाने के पश्चात् भी पाकिस्तान की सहायता का वह सिलसिला कम नहीं हुआ, बल्कि और बढ़ गया। जनरल जिया की सारी राजनीति इसी बात में निहित थी कि वह अफगानिस्तान और पाकिस्तान का एक महासंघ बनाकर सोवियत संघ के आगे बढ़ने की रुकावट के रूप में पेश करके अमरीका को अधिकाधिक सहायता के लिए पटाये रखते थे। उसी नीति पर बेनज़ीर भुट्टो भी चल रही हैं, क्योंकि पाकिस्तान की सेना अभी तक जिया समर्थकों के ही हाथ में है और उनको साथ लेकर चलना बेनज़ीर की मजबूरी है।

यदि चीन परमाणु बम बना ले, अणुचालित पनडुब्बी तैयार कर ले और दूर तक मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र भी तैयार कर ले तो अमरीका को कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि अमरीका और चीन के सामरिक हित समान हैं। परन्तु भारत की सैन्य-सज्जा देखकर अमरीका यह शोर मचाने से बाज़ नहीं आता कि भारत को इतनी तैयारी की क्या आवश्यकता है। उसकी दृष्टि में भारत और पाकिस्तान की सैनिक शक्ति में एक संतुलन कायम रहना चाहिए। परन्तु भारत और पाकिस्तान का मुकाबला? आबादी में दस गुना बड़ा और क्षेत्रफल में ४ गुना बड़ा भारत पाकिस्तान के साथ सैनिक संतुलन बनाये रखे, भला इस बात में कोई तुक है? भारत की सैन्य-शक्ति का आकलन करते हुए सदा इस बात का ध्यान रखना होगा कि उसे केवल पाकिस्तान के साथ लगी सीमा की ही रक्षा नहीं करनी, प्रत्युत चीन के साथ वाली सीमा की भी रक्षा करनी है। अमरीका की सहायता से यह दोनों देश मिल कर चाहे जब भारत की घेराबन्दी की तैयारी कर सकते हैं। इसलिए भारत की आधी सेना जहाँ चीन की सीमा पर तैनात रहती है वहाँ दूसरी आधी सेना पाकिस्तान की सीमा पर। किसी एक देश से भिड़त हो जाने पर दूसरी आधी पाकिस्तान की सीमा पर लगी सेना को नहीं हटाया जा सकता। क्योंकि वहाँ रिक्तता पैदा होते ही भारत पर खतरा कई गुना बढ़ जाने का अन्देश है। इससे यह साफ हो जाता है कि भारत की सम्पूर्ण सैन्य शक्ति को केवल पाकिस्तान के संदर्भ में दिखाकर यह शोर मचाना कि भारत अपनी आवश्यकता से अधिक सैन्य-शक्ति में वृद्धि कर रहा है, निर्गुट भारत के आदर्शवादी इरादों पर सवाल खड़े करने की एक चालाकी भरी रणनीति—मात्र है।

भारत को जब लगा कि श्रीलंका में गड़बड़ी की स्थिति इतनी बढ़ गई है कि वह अमरीका की मदद लेने की सोच सकता है, तब त्रिकोमल्ली में अपना सैन्य अड्डा स्थापित करते हुए अमरीका को देर नहीं लगेगी, एवं जियेगो गार्शिया से तुरन्त सैन्य-सामग्री पहुँच जायेगी, तभी भारत ने श्रीलंका में अपनी सेना भेजना उचित समझा। हमारी सेना बेशक श्रीलंका में बुरी तरह उलझ गई, और श्रीलंका की सरकार को जो लड़ाई लड़नी चाहिए थी, वह हमने अपने सिर पर ले ली। परन्तु यदि अब तक श्रीलंका एक बना रहा और गृहयुद्ध से मुक्त रहा, तो उसका कारण केवल भारतीय शान्ति-सेना की उपस्थिति ही है। अब श्रीलंका के राष्ट्रपति अपने अहम् की पूर्ति के लिए शान्ति-सेना को वहाँ से हटाने की ज़िद पर अड़े हैं। परन्तु उन्हें इसकी चिन्ता नहीं है कि श्रीलंका को खण्डित होने से बचाएँ। भारत अपनी सारी सेना को हटाने में इसीलिए संकोच कर रहा है।

सन् १९६५ से पहले भी अमरीका ने पाकिस्तान को जो हथियार दिये थे, उनके लिए बार-बार यह कहा था कि यह हथियार केवल सोवियत साम्यवाद की बाढ़

को रोकने के लिए हैं, और ये भारत के विरुद्ध प्रयुक्त नहीं होंगे। इस आश्वासन में कितनी सच्चाई थी, यह हम देख चुके हैं। अब पाकिस्तान को अत्यन्त आधुनिक एफ-१६ लड़ाकू विमान देते हुए भी, (यह ध्यान रखने की बात है कि इन विमानों से परमाणु बम भी गिराये जा सकते हैं,) यही तर्क दिया गया था कि ये केवल अफगानी सेना के प्रतिरोध के लिए हैं। परन्तु उन विमानों की दूरमारक क्षमता को देखते हुए यह आश्वासन भी दुनिया की आंखों में धूल झाँकने के सिवाय और कुछ नहीं है।

भारत बार-बार यह कहता रहा है कि भारतीय उपमहाद्वीप में जब तक अमरीका के माध्यम से अत्यन्त आधुनिक हथियारों की खेप आती रहेगी, तब तक हथियारों की यह होड़ बन्द नहीं हो सकती और भारत को भी विवश होकर अपनी शक्ति में वृद्धि करनी पड़ेगी, क्योंकि देश की सुरक्षा हर एक सरकार का नैतिक दायित्व है। परन्तु पश्चिमी देश इस असलियत को सुनने और समझने को तैयार नहीं हैं। हिन्द महासागर, अरब सागर और बंगाल की खाड़ी कुल मिलाकर लगभग २० लाख वर्गमील का क्षेत्र है, जिसके साथ भारत के आर्थिक हित जुड़े हुए हैं। उन हितों की रक्षा के लिए इतनी दूर तक भारत को लगातार निगरानी रखनी पड़ेगी। इसीलिए भारत ने हाल में अपनी समुद्री सेना की क्षमता को बढ़ाने के लिए अनेक कदम उठाये हैं। पश्चिमी देश सोचते हैं कि भारत को केवल अपनी समुद्री सीमाओं की ही तो रक्षा करनी है, जो ६ हजार किलोमीटर से अधिक नहीं है, फिर उसके लिए उसको विशालकाय विमानवाही पोतों की क्या आवश्यकता है? जब भारत ने धारवाड़ (कर्नाटक) में संसार का आधुनिकतम नौ सैनिक अड्डा बनाने का निश्चय किया तो आस्ट्रेलिया और इण्डोनेशिया जैसे समुद्रतटवर्ती देशों से कहा गया कि भारत का इरादा ठीक नहीं है।

संसार के अन्य देश जहां अपने हितों की दृष्टि से अपनी समरनीति तैयार करते हैं और तदनुसार सैन्य शक्ति में वृद्धि करते हैं, उसी तरह भारत को भी आगे बढ़ने का, अपनी रक्षा करने का और अपने चारों ओर के शत्रुओं से निरापद रह कर अपना वर्चस्व बढ़ाने का अधिकार है। इस अधिकार से उसे कोई वंचित नहीं कर सकता।

खाड़ी देशों में खून की होली

इधर राग-रंग का त्यौहार होली आ रही है, उधर खाड़ी देशों में खून की होली खेली जा रही है। जब संसार पर और मानव जाति पर ऐसे भयंकर विनाशकारी युद्ध की काली छाया पड़ रही हो, तब कैसा राग-रंग, कैसी पिचकारी और कैसा होली का त्यौहार, जिसमें रंगीन पानी का ही सबसे अधिक महत्त्व होता है! पर यह पानी की नहीं, खून की होली है।

युद्ध के दोनों पक्षों में कौन सही है और कौन गलत, इस समय यह बहस व्यर्थ है। जब हम ये पंक्तियां लिख रहे हैं तब सोवियत संघ की ओर से शान्ति-प्रस्ताव के कुछ सूत्र रखे गए हैं, जिन्हें स्वीकार कर सद्दाम ने कुवैत से हटना मंजूर कर लिया है। पर अमरीका अभी तक उसके लिए तैयार नहीं है। दोनों में से दूध का धुला कोई नहीं है। दोनों अपनी-अपनी चौधराहट की मनोग्रन्थि के शिकार हैं। जब ईरान को अपनी शक्ति पर गर्व होने लगा और वह उस प्रदेश का चौधरी बनने का स्वप्न देखने लगा, तब अमरीका और मित्र-राष्ट्रों के उकसाने पर ही ईराक उससे लोहा लेने को तैयार हुआ था। वह युद्ध आठ वर्ष तक चला और सारे अर्से में अमरीका, फ्रांस, जर्मनी और ब्रिटेन जैसे देश ही ईराक को शस्त्रास्त्र मुहय्या कराते रहे, जो आज ईराक के साथ युद्ध करने वाली बहुराष्ट्रीय सेना के प्रमुख अंगी हैं। परन्तु ईरान-ईराक-युद्ध समाप्त हो जाने के बाद उक्त देशों की बदौलत ही ईराक ने इतनी शक्ति संचित कर ली कि अब ईरान के बजाय वह इस प्रदेश का चौधरी बनने का स्वप्न देखने लगा। अमरीका को अपना पूरा बना-बनाया खेल बिगड़ते देख चुप बैठना मुश्किल हो गया। पहले ईराक द्वारा कुवैत पर कब्जा जमाने के बाद भी अमरीका चुप रहा, फिर उसे लगा कि यदि अब भी ईराक को नकेल नहीं लगाई तो भविष्य में ईराक अरब देशों का चौधरी बन बैठेगा। इस इलाके के कुल पेट्रोल पर उसका एकाधिकार हो जायेगा, तब हमें कोई नहीं पूछेगा। इसलिए अभी से उसे नकेल डालना ठीक है। नाम कुवैत को आज़ाद कराने का, पर उद्देश्य ईराक को तबाह करने का। इसीलिए तो लड़ाई के पहले दिन से ही ईराक पर ही भयंकर बमबारी जारी है। पहले १५०० उड़ानें रोज होती थीं, इन दिनों रोज २५०० उड़ानें होती हैं। हज़ारों टन गोला-बारूद

ईराक पर और उसके विभिन्न स्थानों पर इस सवा महीने में बरसाया गया है। क्योंकि असली उद्देश्य कुवैत की मुक्ति नहीं, सद्दाम की शक्ति को समाप्त करना है।

एक पहलू और भी है। इस समय हम जिसे ईराक कह कर सम्बोधित करते हैं, उसके निर्माण का श्रेय मित्र-राष्ट्रों को ही है। १६ वीं सदी से यह प्रदेश तुर्की के विशाल ओटोमन साम्राज्य का अंग रहा है। पर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ओटोमन साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर उसे अनेक देशों में विभाजित कर दिया गया। इस प्रदेश का अधिकांश भाग तुर्की साम्राज्य के अन्तर्गत था। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ब्रिटेन ने अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए ईराक से काट कर अलग कुवैत का निर्माण कर दिया। इसलिए सद्दाम का यह कहना तो सही है कि कुवैत ईराक का १६ वां प्रान्त है। पर उससे पहले यह भी सही है कि ईराक भी तुर्की का भाग है। जिस तर्क के आधार पर कुवैत पर ईराक ने अधिकार कर लिया है, उसी तर्क के आधार पर ईराक पर तुर्की का अधिकार बनता है। इसीलिए तुर्की ने बहुराष्ट्रीय सेना में अपने एक लाख सैनिक भेजे हैं, और बहुराष्ट्रीय सेना ने कहा है कि वह ईराक पर हमले के लिए तुर्की के हवाई अड्डों का निस्संकोच इस्तेमाल कर सकती है। शायद तुर्की सोचता है कि ईराक की सामरिक शक्ति नष्ट हो जाने के बाद वह अपने पुराने प्रदेश पर काबिज हो सकेगा।

इस पुराने इतिहास के विस्तार में जाने की यहां जरूरत नहीं है। यह ऊँट किस करवट बैठेगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। पहले जिस जंग के अधिक से अधिक एक सप्ताह के अन्दर समाप्त होने की भविष्यवाणी की जा रही थी, अब सवा महीना बीत जाने पर भी उसके समाप्त होने के बजाए और अधिक लम्बा खिंच जाने के आसार बढ़ते नज़र आते हैं। सद्दाम ने शुरु में ही कहा था कि अमरीका अपने दस हजार सैनिकों का मरना बर्दाश्त नहीं कर सकता, जबकि धूल फांक-फांक कर कठोर जीवन के आदी ईराकी सैनिक ईरान के साथ लड़ाई में अपने हजारों सैनिक गवां कर भी पुनः उसी जोश के साथ लड़ने पर आमादा हैं। सद्दाम कह रहे हैं—‘अभी तो असली लड़ाई शुरु भी नहीं हुई।’ उन्हें ज़मीनी जंग की इन्तज़ार है, और उन्हें विश्वास है कि ज़मीनी जंग में वे हजारों अमरीकी सैनिकों को धराशायी करके छोड़ेंगे, और तब अमरीका को नानी याद आ जाएगी। यह ठीक है कि ईराक भी पूरी तरह तबाह हो जाएगा, पर जीत जाने के बाद अमरीका भी बहुत अच्छी स्थिति में नहीं रहेगा। द्वितीय विश्वयुद्ध जीतने के बावजूद ब्रिटेन महाशक्ति नहीं रहा, और उसका विशाल साम्राज्य भी समाप्त हो गया।

इस आधुनिकतम हथियारों से लड़े जाने वाले युद्ध के तीन परिणाम अवश्यम्भावी हैं। सबसे पहला खतरा तो यही है कि प्रस्तुत शान्ति-प्रस्ताव ठुकरा दिये जाने पर रूस के भी युद्ध में कूद पड़ने की सम्भावना है। तब इस युद्ध को विश्व-युद्ध

बनने से नहीं रोका जा सकेगा। परन्तु अभी तक भी जितना युद्ध हुआ है, उसके तीन भयंकर परिणाम सामने आने वाले हैं—१. भारी संख्या में जन-नाश, २. बड़ी मात्रा में धन-नाश, और ३. व्यापक पर्यावरण-प्रदूषण।

हालांकि अभी तक समाचारों पर सेंसर है और दोनों पक्ष अपने-अपने ढंग से दावे करते हैं, इसलिए कहा नहीं जा सकता कि असलियत क्या है। पर स्वयं ईराक स्वीकार कर चुका है कि अभी तक उसके बीस हजार आदमी मारे जा चुके हैं। जहां तक धन-नाश का प्रश्न है उसकी संख्या भी कल्पनातीत है। अमरीका का युद्ध पर होने वाला प्रतिदिन का व्यय लगभग ६ अरब रु० है। प्रतिदिन प्रक्षेपास्त्रों पर होने वाला व्यय १ अरब रु० है। एक-एक प्रक्षेपास्त्र की कीमत भी चौकाने वाली है। टोरनाडो जी-आर-१ की कीमत है ४० करोड़ रु०। रासायनिक युद्ध का बचाव परिधान प्रतिव्यक्ति पड़ता है २० हजार रु०। पैट्रियट प्रक्षेपास्त्र की कीमत है १ करोड़ रुपये। दोमहाक क्रूज प्रक्षेपास्त्र की कीमत है डेढ़ करोड़ रु०। अमरीकी एफ १५ की कीमत है २० करोड़ रु०। और जिस स्कड प्रक्षेपास्त्र की इतनी चर्चा है, उसकी कीमत है २० लाख रु०। जरा कल्पना करिये कि हर रोज कितना धन केवल धुएं में परिणत होकर रह जाता है। अब तक खाड़ी युद्ध पर ७७ अरब डालर या १२ खरब रु० स्वाहा हो चुका है।

अब जरा पर्यावरण-प्रदूषण का आकलन करिए। जितनी गैसें छोड़ी जा रही हैं, उनसे ओजोन की चादर में छेद होने की संभावना है, जिससे सूर्य की हानिकारक किरणों को भूमण्डल तक आने से नहीं रोका जा सकेगा और पूरा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यावरण प्रभावित होगा। ओजोन की परत में छेद होने से सूर्य के प्रकाश में बाधा पहुंचेगी और बादलों की जगह विषैला धुआं भर जायेगा जिससे वर्षा का अभाव होगा, या जहरीली वर्षा होगी। यह तो ऊपर के पर्यावरण का हाल होगा। नीचे के पर्यावरण में हवाई जहाजों और टैंकों के भारी मात्रा में चलाने से वायुमण्डल में रासायनिक प्रदूषण बढ़ेगा। तेल के कुओं में आग लगाने से बड़े-बड़े क्षेत्र अन्धकार की परत से घिर जाएंगे। समुद्री जीव जन्तु और धरती के पशु-पक्षियों का विनाश होगा। प्लास्टिक की सुरंगों से समुद्रों में तेल का रिसाव बेहिसाब बढ़ जायेगा। विस्फोटों से होने वाली नागरिकों की अंधाधुंध मौतों से सफाई और स्वास्थ्य की सारी व्यवस्थाएं चौपट हो जाएंगी। हैजा और टायफाइड जैसे संक्रामक रोगों का प्रसार होगा और शस्त्रास्त्रों से घायल होने वालों में कितने ही लोग सदा के लिए अपंग हो जाएंगे।

अब बताइये इस खूनी होली के चलते आप राग-रंग वाली होली की बात करना या बात सुनना भी पसन्द करेंगे?

शान्ति अभी अधर में

ठीक होली के दिन अचानक खबर आई कि तोपों के गोले बरसने बन्द हो गये और बमों की बौछार भी बन्द हो गई। ईराक ने कुवैत खाली करने की घोषणा कर दी और युद्ध विराम हो गया। इस प्रकार खाड़ी देशों में डेढ़ महीने से चली आ रही खूनी होली तो समाप्त हो गई, परन्तु उल्लास और नाना रंगों से भरी हर्ष और शान्ति की होली आने में अभी कसर है। ज़मीनी लड़ाई को शुरू हुए मुश्किल से १०० घंटे हुए थे कि सद्दाम को नानी याद आ गई और उसने संयुक्त राष्ट्र का युद्ध-विराम का प्रस्ताव मानने की रज़ामन्दी की सूचना सोवियत संघ के मार्फत भिजवा दी।

पर अमरीका भी कच्ची गोलियां नहीं खेला था। ईराक के घोषणा कर देने पर भी अमरीका ने इस प्रस्ताव को मानने से तब तक इन्कार कर दिया, जब तक ईराक संयुक्त-राष्ट्रीय सुरक्षा-परिषद् के सारे प्रस्ताव नहीं मान लेता। युद्ध-विघ्ना के आकलनकर्ता अनेक विशेषज्ञ जहां यह भविष्यवाणी करने में लगे थे कि ज़मीनी लड़ाई अमरीका को बहुत भारी पड़ेगी और जान-माल की भयंकर हानि होगी तथा लड़ाई लम्बी चलेगी, वहां भारत के पूर्व सेनाध्यक्ष जनरल सुन्दर जी बार-बार यह बात दुहरा रहे थे कि जम्बूरी में जकड़ी कील की तरह ईराक-कुवैती मोर्चा अचानक नाटकीय ढंग से धराशायी हो जाएगा, और ईराक शीघ्र ही अपनी पराजय स्वीकार कर लेगा। वही हुआ। पर इस पराजय में भी अपनी विजय का आभास अपने देशवासियों को देने के लिए अपनी संहारक-शक्ति सुरक्षित रखने और अपनी खास टुकड़ियों को बचाने के लिए उसने सुरक्षा परिषद् का पहले केवल एक प्रस्ताव मानने की बात कही, पर बाद में उसे सब प्रस्ताव मानने को विवश होना पड़ा। इतना ही नहीं, उसे अमरीका द्वारा लगाई अन्य शर्तें भी माननी पड़ीं। इस तरह अन्ततः युद्ध विराम तो हो गया, पर अभी तक दोनों पक्षों में एक दूसरे पर अविश्वास की लकीर इतनी गहरी है कि शान्ति स्थापित होने में काफी देर लग जाएगी।

यहीं आकर भारत गच्चा खा गया। भारतीय मुसलमान जहां सद्दाम के गीत गाते नहीं थकते थे, और वे राजनेता जो केवल संकीर्ण स्वार्थों की खातिर मुस्लिम

वोटों को प्राप्त करने के लिए सद्दाम का समर्थन कर रहे थे, उनके सब दांव चलते पड़ गये। कहने को वे ऐसे घोड़े पर बाजी लगा रहे थे जिसे देर या सवेर हारना ही था। पर वे निश्चित रूप से मानवीयता के नाम पर अपनी राजनीतिक गोटियां खेल रहे थे। पर जो मानवतावाद अयथार्थ पर आधारित हो, उसकी पोल खुलते देर नहीं लगती और वह राजनीतिक मूढ़ता की निशानी बन कर रह जाता है।

भारत अब तक आदर्शवाद के नाम पर यही राजनीतिक भूल करके राष्ट्रीय हितों को हानि पहुंचाता रहा है। भारत अपनी अदूरदर्शिता के कारण ऐसी भयंकर ऐतिहासिक भूलें करता रहा है कि संसार के किसी अन्य देश में उसका उदाहरण मिलना कठिन है। शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज चौहान पर सात बार हमला किया, उसे सातों बार मुंह की खानी पड़ी। पर ज्यों ही उसने मुंह में तिनका दबाकर माफी मांगी, हर बार उसे माफ कर दिया गया। शहाबुद्दीन गौरी आठवीं बार के हमले में जीत गया तो उसने पृथ्वीराज को एक बार भी माफ नहीं किया और उसे पहले बन्दी बनाया फिर मार दिया गया। यही उपकार का बदला था?

सन् १६४७ में कबायलियों से कश्मीर पर आक्रमण के समय जब हमारी सेना ने उन्हें खदेड़ना शुरू किया, तभी हमने भी युद्ध-विराम की घोषणा कर दी थी।

परिणाम? आज आधा कश्मीर पाकिस्तान के कब्जे में है और शेष कश्मीर पाकिस्तान प्रेरित आतंकवाद के साये में सांस ले रहा है। यही बात सन् १६६५ में हुई। ताशकंद समझौते के ज्ञांसे में हमने जीती बाजी हार दी। सन् १६७१ की बांग्लादेश की लड़ाई में भी यही हुआ। पाकिस्तान के ६० हजार युद्ध-बन्दियों को तो हमने आदर्शवाद के नाम पर छोड़ा ही, ५ हजार वर्ग गज भूमि भी पाकिस्तान को लौटा दी। और तो और, छम्बजोरियां भी हम पाकिस्तान से खाली नहीं करवा सके।

कहावत है—सांप को अधमरा और बाघ को घायल मानकर यों ही छोड़ देने से वे फिर और अधिक खूंखार बन जाते हैं। इसलिए अमरीका और बहु-राष्ट्रीय सेना भी यदि सद्दाम द्वारा पूरी तरह पराजय स्वीकार किये बिना और अपनी सब शर्तें मनवाये बिना युद्धविराम को तैयार नहीं हुआ तो यह व्यावहारिक राजनीतिक दृष्टि से सर्वथा उचित है। ईराक जब तक युद्ध बन्दियों को अपहृत या बन्धक बनाये गये लोगों को नहीं छोड़ देता और कुवेतियों की सब सम्पत्ति नहीं लौटा देता, तब तक उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध जारी रहेंगे और बहुराष्ट्रीय सेना द्वारा बल-प्रयोग का अधिकार भी सुरक्षित रहेगा।

कुवेत और ईराक में जितनी बरबादी हुई है, सब कल-कारखाने, पानी, बिजली और संचार के सब संयंत्र नष्ट हो गए हैं और लोगों को जीने के लाले

पड़ गये हैं, उस स्थिति से उबरने में अभी कई महीने लगेंगे। जब तक इन दोनों स्थानों पर स्थिति सामान्य नहीं हो जाती और पूरी तरह अस्तव्यस्त जन-जीवन सामान्य नहीं हो जाता, तब तक खाड़ी देशों में शान्ति की कल्पना करना कठिन है। तभी अमरीकी राष्ट्रपति ने घोषणा की है कि यदि बहुराष्ट्रीय सेना के ६ लाख जवानों को इस प्रदेश में सन्नद्ध करने में ५ महीने लगे थे, तो इन जवानों को वहां से हटने में भी तो उतना ही समय लगेगा। जब तक बहुराष्ट्रीय सेना इतनी भारी संख्या में वहां विद्यमान है, तब तक शान्ति लगातार अधर में ही रहेगी।

१० मार्च १९६१



“कैसी-कैसी सत्य-असत्य घटनाएं इन राजनीतिक महापुरुषों के साथ जोड़ दी जाती हैं— इसका एक उदाहरण मिस्त्र के स्वर्गस्थ राष्ट्रपति श्री नासिर के साथ भी सम्बद्ध है। हाल ही में एक खबर उड़ी कि सऊदी अरब के शाह सऊद ने नासिर को इज्राइल के साथ संघर्ष में मिस्त्र की सहायता के लिए डेढ़ करोड़ डालर दिए थे, जो नासिर ने एक विदेशी बैंक में अपने व्यक्तिगत नाम से जमा करवा दिए ताकि आड़े वक्त में काम आ सकें। जिस व्यक्ति ने मिस्त्र की स्वतंत्रता के लिए और अरब राष्ट्रों की एकता के लिए अपना सारा जीवन लगा दिया, उसके प्रति इस प्रकार की खबर निस्संदेह जनता के मन से उसकी यशःभूत प्रतिमा को अपदस्थ करने का एक कुत्सित प्रयत्न—मात्र था। क्योंकि बाद में जांच करने पर यह स्पष्ट हो गया कि सऊदी अरब के शाह ने वह रुपया दिया अवश्य था, और वह विदेशी बैंक में जमा भी हुआ था, किन्तु यथासमय वह मिस्त्र की सरकार को मिल गया था और उससे नासिर ने कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं उठाया था।”

“इसी प्रकार की यश-विध्वंशी घटनाएं अमरीका के राष्ट्रपति जॉन एफ० कैंनेडी के बारे में भी उड़ रही हैं। जिस व्यक्ति की मृत्यु की तुलना अब्राहम लिंकन और महात्मा गांधी की मृत्यु से की गई थी और जो सचमुच एक ‘हीरो’ की मौत मरा था, अब उसको बदनाम करने के लिए उसके तरह-तरह के हुए-अनहुए प्रेम-प्रसंगों की चर्चा की जा रही है। राष्ट्रपति कैंनेडी की महिला निजी सचिव द्वारा ‘कैंनेडी के साथ मेरे बारह वर्ष’ नामक पुस्तक लिखी गई है। यह सब इसलिए कि स्वर्गस्थ राष्ट्रपति के भाई एडवर्ड कैंनेडी जिन्होंने संसार के संघर्षरत और विपद्ग्रस्त स्थानों की स्वयं यात्रा करके (जिनमें बांग्लादेश भी शामिल है) वहां की जनता के न्यायोचित अधिकारों की मांग का समर्थन किया था, वे अमरीका के आगामी चुनावों में राष्ट्रपति के उम्मीदवार के रूप में कहीं खड़े न हो जाएं।”

—‘फिर इस अन्दाज से बहार आई,’ पृष्ठ २५

सुभाषित

कर रहे प्राचीन भारत का नया निर्माण हम।

साथ लेकर चल रहे हैं ज्ञान और विज्ञान हम॥

अब वतन के सूरमा हम हैं वतन की शान हम।

राणा प्रताप शिवा हैं हम रणजीत हम चौहान हम॥

शेर-दिल टीपू हमारी दास्तां आबान हम।

लक्ष्मीबाई और जीनत-महल की भी आन हम॥

अपने पुरखों की शज़ाअत पर तो गौरव है मगर।

कल के थे बलवान वे और आज के बलवान हम॥

कल थी राजाओं की ताकत आज की ताकत अदाम।

तब के हिन्दुस्तान वो थे अब के हिन्दोस्तान हम॥

दे चुके हैं जंग में अपनी दिलेरी का सबूत।

आइए दिखलाएं सैबर-जैट-कब्रिस्तान हम॥

तीसरी भी सामने आई तो देखा जाएगा।

जीत कर बैठे हैं दो-दो जंग के मैदान हम॥

एक टुकड़ा करके भारत मां को दुःख पहुंचा चुके।

अब तुझे टुकड़े न होने देंगे हिन्दोस्तान हम॥

चार दिन की ज़िन्दगी है काट लें हंस बोल के।

किसको रहना है यहां मेहमान तुम मेहमान हम॥

देश-सेवा के लिए काफी हैं हम सब ऐ नज़ीर।

बाहरी ताकत का लेने जाएं क्यों एहसान हम॥

- नज़ीर बनारसी

नये सिकन्दर का नया अभियान

जब से सोवियत संघ का विघटन हुआ है और महाशक्ति के रूप में कोई अन्य प्रतिद्वन्द्वी न होने के कारण विश्व के मैदान में एक-मात्र अमरीका ही महाशक्ति के रूप में बचा है, तब से अमरीका का अंहकार इतना बढ़ गया है कि वह अब सारे संसार को अपने एकच्छत्र साम्राज्य के अधीन करने को आवश्यकता से अधिक उत्सुक हो उठा है। जिस तरह कभी सिकंदर ने विश्व-विजय का स्वप्न देखकर कूच प्रारंभ किया था, उसी तरह अब यह नया सिकंदर भी अपने साम्राज्यवाद के विस्तार के लिए नये अभियान पर निकल पड़ा है।

हमारे राजनीतिज्ञों की गलती के कारण देश की आर्थिक दशा इतनी दयनीय हो गई थी कि उसे अमरीका के सामने हाथ फैलाने के सिवाय और कोई चारा दिखाई नहीं दिया; तो इस बात ने अमरीका को भी अपने उस विश्व-विजय के स्वप्न को धरितार्थ करने के लिए और क्रूर बना दिया। पहले तो अमरीका ने भी प्रेमपूर्वक मैत्री के लिए बढ़ाये हाथ का उसी गर्मजोशी से स्वागत किया, परन्तु धीरे-धीरे हमारी विवशता का फायदा उठाते हुए उसने अपना विस्तारवादी वीभत्स रूप भी दिखाना प्रारंभ कर दिया।

पुराने समय से आँग्ल-अमरीकी गुट हमेशा एक प्रवृत्ति का रहा है; जिसे अंग्रेजी की कहावत में कहा गया है—“लिक जॉन, ही विल किक यू; ऐण्ड किक जॉन, ही विल लिक यू”—अर्थात् तुम जॉन को प्यार करोगे तो वह तुम्हें दुत्कारेगा, और यदि तुम उसे दुत्कारोगे तो वह तुम्हें प्यार करेगा। ब्रिटिश साम्राज्य के इतिहास से इसके अधिक उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु यह ध्यान रखने की बात है कि जब अंग्रेजों ने यह देख लिया कि अब भारतीय जनता अपनी स्वाधीनता के लिए ‘करने और मरने’ की भावना से अनुप्राणित होकर इतनी उत्तेजित हो उठी है कि अब उसे अपने पंजों में रखना संभव नहीं होगा और हमको भारत छोड़कर जाना ही पड़ेगा, तो उन्होंने लार्ड माउंटबेटन जैसे भव्य और मोहक व्यक्तित्व के धनी को केवल इसी उद्देश्य से भारत का वायसराय बनाकर भेजा, जिससे वे भारतीय नेताओं को किसी न किसी तरह पटाकर देश-विभाजन की नीति तैयार करें। इसमें संदेह नहीं कि लार्ड माउंटबेटन ने जितनी कुशलता से यह काम किया, उतनी कुशलता से कदाचित् कोई अन्य अंग्रेज अधिकारी न कर पाता। इस विषय में लेडी माउंटबेटन के जादू का वर्णन करके हम बात को हलके स्तर पर नहीं लाना चाहते; पर अंग्रेजी कूटनीति की इससे बढ़कर विजय नहीं हो सकती कि १५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र तो हुआ, परन्तु भारतीय नेताओं की सहमति से उससे एक दिन पहले, अर्थात् १४ अगस्त को भारत का सिर काटकर पाकिस्तान नाम के एक नये देश का निर्माण हो गया। यह संसार की एक अभूतपूर्व और अदृष्टपूर्व घटना अश्रुतपूर्व किन्तु अश्रुपूरित थी, फिर भी जिससे भारतीय नेता भी खुश और मुस्लिम नेता भी खुश।

अब जब तक पाकिस्तान की हस्ती मौजूद है, तब तक वह कभी भारत को चैन नहीं लेने देगा। आखिर उसका निर्माण आँग्ल-अमरीकी गुट ने किया ही इसलिए था कि भारत अपने संसाधनों और विशाल जन-बल के आधार पर कहीं विश्व की एक अन्य महाशक्ति बनकर खड़ा न हो जाय। जब से ब्रिटिश साम्राज्य छिन्न-भिन्न हुआ है, तब से उसकी थानेदारी भी अमरीका ने ही संभाल ली। आखिर पाकिस्तान में अपना दम ही क्या है? उसका जितना भी दम और दम्भ है, वह सब अमरीका

की ही तो देन है। पाठक भूले नहीं होंगे, जब बांग्लादेश के रूप में भारतीय सेना के शौर्य—बल पर पाकिस्तान विघटित हो गया और अमरीका को लगा कि अब पाकिस्तान के भी समाप्त होने में देर नहीं लगेगी, तो उसने अपनी इस औरस औलाद को बचाने के लिए अणु—अस्त्रों से लैस अपना जहाज़ी बेड़ा हिन्द महासागर में भेजकर उसे भारत के पीछे लगा दिया। परन्तु तब दूसरी महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ मौजूद था और उसके साथ भारत की मैत्री—संधि थी, तो अमरीकी बेड़े के पीछे उसने भी अपना बेड़ा लगा दिया। उस समय अपनी ही भूमि पर विश्व—युद्ध के भंयकर ताण्डव की और भयानक विनाश की कल्पना करके भारत ने अपनी सेना को पाकिस्तान पर आक्रमण करने से रोक दिया। इसलिए तब पाकिस्तान तो बच गया, परन्तु भारत का शाश्वत सिरदर्द भी समूल नष्ट होने से रह गया। किसलिए ? केवल अमरीका की बदौलत।

अब अमरीका ने पेंटागन की ओर से जो नई नीति निर्धारित की है, उसके कारण उसका पाकिस्तान के प्रति जितना प्रेम उजागर हुआ है, उससे कहीं अधिक भारत के प्रति घौंस उजागर हुई है। अमरीका को मालूम है कि पाकिस्तान के पास अणु—बम मौजूद है और उसने चीन से दूर तक मार करने वाले प्रक्षेपात्र भी प्राप्त कर लिए हैं जिनका लक्ष्य अब सिवाय भारत के और कोई नहीं हो सकता। ऐसी हालत में अमरीका भारत पर तरह—तरह से दबाव डाल रहा है कि वह किसी न किसी तरह अणु—अप्रसार संधि पर हस्ताक्षर कर दे। इसके लिए बहाना बनाया गया है कि अमरीका समस्त दक्षिणी एशिया को अणुमुक्त क्षेत्र बनाना चाहता है। जिनके पास पहले से ही अणु—बम मौजूद हैं उनको इस संधि पर हस्ताक्षर करने में क्यों आपत्ति होगी ? वे तो पहले से ही अणु—अस्त्रों से लैस हैं। फिर पाकिस्तान और चीन दोनों की सत्यप्रियता और नैतिकता पर विश्वास करना भी कठिन है, क्योंकि झूठ और विश्वासघात उन दोनों की राजनीति के प्रधान अंग हैं। परन्तु भारत अपनी नैतिकता और सत्यप्रियता के लिए ही सारे संसार में आदर का पात्र माना जाता है; इसलिए उसके नेताओं से झूठ और विश्वासघात की कल्पना कोई नहीं करना चाहेगा।

फिर प्रश्न यह भी है कि केवल दक्षिण एशिया को अणु—मुक्त क्षेत्र बनाने की कोशिश क्यों ? सारे विश्व को अणु—मुक्त क्षेत्र बनाने की बात क्यों नहीं ? क्योंकि अमरीका केवल यह चाहता है कि आणविक शक्ति का सारा ठेका केवल मेरे पास रहे और सारे संसार को जिस तरह से मैं चलाना चाहता हूँ, उसी तरह चलना चाहिए। विश्व विजय का स्वप्न देखने वाला हरेक सिकंदर यही तो चाहता है! अब इत्त नये सिकंदर ने भारत की आर्थिक दुर्दशा का लाभ उठाकर और विश्व बैंक से आर्थिक सहायता दिलवाकर, तथा उसकी समस्त अर्थव्यवस्था को बदलने

पर मजबूर करके जहां उसके भावी विकास को पूरी तरह अपने नियंत्रण में ले लिया है, और वह चाहे जब भारत को पूरी तरह बरबाद करने में अपने आप को समर्थ समझने लगा है, वहां अब उसने पेंटागन की मार्फत भारत को यह धमकी देनी प्रारंभ कर दी है कि यदि भारत ने उसकी बात नहीं मानी तो वह भारत पर हमला भी कर सकता है। भला इस धौंस का कोई औचित्य है, सिवाय तानाशाही मिजाज के? ऐसा लगता है कि अमरीका किसी न किसी तरह भारत पर हमला करने का बहाना ढूँढ रहा है। इसलिए जहां वह कश्मीर में भारत पर मानवाधिकार-हनन का आरोप लगाता है, वहां उसे पाकिस्तान में सिंधियों, बलोचियों और पठानों पर होने वाले क्रूर अत्याचार और मानवाधिकार-हनन के लक्षण दिखाई नहीं देते। क्या नये सिकंदर का यह स्वप्न हम पूरा होने देंगे?

पिछले दिनों भारत के सांस्कृतिक इतिहास के साथ एकात्मता अनुभव करने वाले डा० राममनोहर लोहिया की जन्मशती पर उन्हीं का एक कथन दोहराने को मन करता है— 'हे भारत—माता हमें शिवजी की बुद्धि दो, कृष्ण का सा हृदय दो, और राम की कीर्ति और शौर्य दो, जिससे हम तुम्हारे अनुरूप पुत्र बन सकें।'

५ अप्रैल १९६२



'जिस तरह ब्रिटेन ने महारानी एलिज़ाबेथ के राज्यारोहण का समारोह माउण्ट एवरेस्ट पर विजय प्राप्त करके अनोखे ढंग से मनाने का स्वप्न संजोया था, उसी प्रकार अमरीका ने अपनी स्वतंत्रता-प्राप्ति का द्विशती समारोह वाइकिंग-१ को मंगल ग्रह पर उतारकर मनाने का निश्चय किया।

पर वाइकिंग के नखरे भी कम थोड़े ही हैं। हज़रत ६१ करोड़ ४० लाख किलोमीटर की दूरी तय करते-करते ४ जुलाई के बजाय खरामा खरामा २० जुलाई को वहां उतरे हैं। पहले अपने उतरने के स्थान पर ही सहमत नहीं हो रहे थे। पर जब मित्रत-समाजत के बाद उतर ही गए तो अपनी बांह ही तुड़वा बैठे। अब वैज्ञानिक बिचारे परेशान-कि इतनी दूर पांव फैलाकर आराम से बैठे इस शैतान छोकरे की बांह ठीक कैसे करें।'

'पर वैज्ञानिक इस मंगल ग्रह के पीछे पड़े ही क्यों हैं? बात असल में यह है कि पाश्चात्य सभ्यता ने पारिवारिक सुख तो नष्ट कर ही दिया, इसीलिए पश्चिम का मानव अपने घर-परिवार से भागा-भागा फिरता है। पहले समुद्रों, पर्वतों और ध्रुव प्रदेशों की खाक छानता रहा, पर वहां भी जब सुख नहीं मिला तो वह इस पृथ्वी-लोक की परिधि से निकलकर चन्द्रमा, मंगल और शुक्र आदि ग्रहों के पीछे हाथ धोकर पड़ गया। उसे लगा कि इन ग्रहों में जाकर वह सुखी हो सकेगा। भारतीय संस्कृति के इस तत्त्व को वह नहीं समझना चाहता कि सुख अपने अन्दर है, बाहर नहीं।

— 'फिर इस अन्दाज से बहार आई', पृष्ठ ८१